सामसुधा

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

मूल्य ७० नए पैसे

जुलाई १९६३ ई०

स्वामी [illegible] परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

पुस्तक मिलने का पता: —

गोविन्दराम हासानन्द

नई सड़क, दिल्ली

श्रावण २०२० वि०

जुलाई १९६३ ई०

सार्वदेशिक प्रेस, दिल्ली-७

सामसुधा

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व नामक वेदचतुष्टय में सामवेद का तृतीय स्थान है।

साम का स्वरूप—

१—'साम' शब्द "सातिभ्यां मनिन्मणिनौ" (उणादि० ४।१५३) सूत्रानुसार "षो अन्तकर्मणि" (दिवादि०) धातु से बना है। 'कर्मणोऽन्तः-अन्तकर्म'। कर्म का अन्त 'अन्तकर्म' कहलाता है*। 'स्यति कर्मान्तमेति'—कर्मान्तस्वरूप साम हुआ। ऐसा निरुक्त में भी पक्षान्तर से कहा है "स्यतेर्वा" (निरु० ७। १२)।

२—ज्ञान, कर्म, उपासना ये वेदत्रयी-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के विषय हैं। इससे सामवेद उपासना वेद है।

अन्तकर्म—कर्मान्तस्वरूप तथा उपासना ही साम है। यज्ञ में यह घृत है, यह सामग्री है, यह मिष्टान्न है, यह पौष्टिक द्रव्य

---

*"राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २।२।३) से 'कर्म' का पर निपात।

है ये समिधाएं इत्यादि प्रत्यक्ष विषयक कथन ज्ञान हुआ। पुनः उनका अग्नि में आहुतिप्रदान करना कर्म (यजन कर्म) है। अन्त में कर्म या कर्मान्त—कर्म का अन्त—कर्म का अन्तिम स्वरूप है तेजोयुक्त सुगन्धसंस्कार एवं सुगन्धप्रसार। सुगन्ध का ऊर्ध्वप्रसार ही साम है "देवाः सोमं दिवः साम्ना समानयन् तत्साम्नः सामत्वम्" (तै० सं० २। २। ८। ७) "आप. सोमः" (शत० ७। १। १। २२) "वृत्रो वै सोमः" (शत० ३।४।३।१३) "वृत्रो वै मेघः" (निघं० १। १०) देवजन—विद्वान् महानुभाव इस हुत कर्मान्त-यजनकर्म के अन्तिम स्वरूप ऊर्ध्व प्रसृत सुगन्ध-रूप साम से सोम—आकाश में फैले हुए जलरूप अभ्रदल—मेघजल को पृथिवी पर 'समानयन्' ले आए। आध्यात्मिक दृष्टि में देवजन—मुमुक्षु महानुभाव साम अर्थात् उपासना के द्वारा द्यौः—द्योतनात्मक मोक्षधाम से सोम—आनन्दरसरूप परमात्मा को हृद्भूमि में 'समानयन्' ले आए। शब्द तथा अर्थ की समानता से 'सामन्' साम है 'समानयन्' में 'समान्-अयन्' में 'अयन्' क्रियारूप को पृथक् कर देने से 'समान्' के अन्तिम दीर्घ (आकार) मात्रा को आदि में 'सा' रूप में देखने से 'सामन्-साम' हो गया। यह अल्पभेद से शब्दसाम्य में अर्थ-प्रधान निरुक्ति है।

यह अन्तकर्म—कर्मान्तस्वरूप ही उपासना भी है "ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति [गायन्ति]" (निरु० १३ ७) ऋग्वेद से शंसन—वस्तुकथन यह घृत है यह हव्य है यह

सामग्री है यह समिधा है प्रत्यक्षीकरण ज्ञान। यजुर्वेद से यजन—आहुति प्रदान कर्म है। सामवेद से स्तवन—कीर्तन करना गान है—गान प्रसन्नतावश समस्त संस्कार समारोहों के अन्त में साम मङ्गल गान हुआ करता है। ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में यही लिखा है, बस यह प्रसन्नता की अनुभूति ही उपासना है।

३—निरुक्त में पक्षान्तर से "असु क्षेपणे" (दिवादि०) से 'साम' शब्द बनाया है 'अस्यते ····· " (निरु० ७।१२) 'अस्तमृचि' ऋचा में ऋग्वेद के मन्त्र में क्षिप्त-रखा होने से साम है। सामवेदीय उपनिषद् में कहा भी है—"ऋच्यध्यूढं साम गीयते" (छान्दो० १।६।१) ऋचा में आश्रित साम गाया जाता है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों का सामवेद में आ जाना पुनरुक्त दोष नहीं है तथा ऋग्वेद में आये हुए उन मन्त्रों के अन्दर अग्नि, सूर्य, इन्द्र, सोम आदि शब्द बाह्य जगत् में वर्तमान अग्नि आदि जड़ पदार्थों के वाचक हैं परन्तु साम में आये ये अग्नि आदि शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। अत एव परमात्मा की उपासना का वेद सामवेद होने से ईश गुणगान के कारण उसमें आए ऋग्वेद के मन्त्रों या मन्त्रों में आए अग्नि आदि शब्द पुनरुक्त दोष से मुक्त हैं। अग्नि आदि नाम परमात्मा के हैं "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।" (ऋ० १।१६४।४६)। पद की दृष्टि से गान का,

पदार्थ की दृष्टि से उपासना का वेद सामवेद है। 'सा' ऋचा है ऋङ्मन्त्र है, 'अम' साम मन्त्र है, दोनों मिल कर साम है साम का स्वरूप है गानप्रक्रिया में। अध्यात्म प्रक्रिया में "प्राणो वाअमो वाक् सा तत्साम" (जै० उ० ४। २३। ३) वाक्—जप 'सा' है, प्राण--अर्थसहित जपानुभव 'अम' है "तज्जपस्तदर्थ-भावनम्" (योग० १। २८) ओ३म् का जप और अर्थानुसत्र ही साम है।

४—पक्षान्तर से निरुक्त में "समं मेने साम" (निरु० ७। १२) 'सम' से समान भाव से तुलित अनुभूत होने वाला--समीकृत--ईश्वर के गुण कर्मानुसार अपने गुण कर्म बनाना अथवा 'समे भवम्' सम समान में होनेवाला समभावापन्न साम, जैसे "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" (यजु० १९। ९) परमात्मन्! तू तेजःस्वरूप है मुझ में तेज धारण करा। यही साम है यही उपासना है उपास्य के गुणों का आधान यही यथावत् गान है "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः।" (ऋ० ८। ४४। २३) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! जबकि मैं तू हो जाऊँ और तू भी मैं हो जा तो तेरे आशासन—आदेश एवं तेरी हित भावनाएं इस जीवन में सत्य हो जावें सफल हो जावें, लोहगोला जैसे अग्नि में पड़कर अग्नि के समान प्रकाशवान् और तापवान् हो जाता है अग्नि भी लोह गोल के समान प्रतीयमान भारवान् भासित होने लगता

है, बस यही समानधर्मापन्नत्व साम है*।

सामवेद में तीन आर्चिकाएं हैं—ऋचासमूह श्रेणियाँ हैं पूर्वार्चिका, महानाम्न्यार्चिका, उत्तरार्चिका। इनमें विभागक्रम या सम्प्रदाय क्रम दो हैं एक अध्याय और खण्ड का है अध्ययन या उपासना की दृष्टि से, दूसरा प्रपाठक और दशति (दश मन्त्र-संगृहीति) का है कर्मकाण्ड या गान की दृष्टि से, ये दोनों क्रम प्रचलित हैं।

प्रथम दशति

ऋषिः--भरद्वाजः (परमात्मा के अर्चन ज्ञान बल* को धारण करने वाला महानुभाव।

---

* लोह गोला नितान्त समान नहीं बनता किन्तु अग्नि से पृथक् होने पर पुनः काला हो जाता है हां कुछ निखर जाता है तथा संयोग-काल में भी गोलाकार या स्वाकार में रहता ही है, अग्नि भी लोह-गोल से पृथक् भी वर्तमान है ही। ऐसे उपासक भी उपासनाकाल से या समाधि से भिन्न काल में भिन्न सत्ता वाला निज रूप में कुछ प्रसन्न सा रहता है और उपासनाकाल में भी अणुरूप में परमात्मा के अन्दर होता ही है। परमात्मा विभु धर्म से ही सदा रहता है।

* "वाजयति अर्चतिकर्मा" (निघं० ३।१४) "वाजम्—अर्चनं ज्ञानं बलं च भरन् यो वर्तते स भरद्वाजः।" "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २।२।३१) "वाजं बलम्" (निघं० २।६) "वज व्रज गतौ" (भ्वादि०)।

देवता--अग्निः१ (ज्ञान प्रकाशस्वरूप परमात्मा)

निज आत्मसमर्पण से परमात्मा का प्रकाश हृदय में धारण कर लिया जाता है--

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू (हव्यदातये गृणानः) निज को तेरी भेंट देनेरूप ध्यानोपासन क्रिया के लिए हमारे द्वारा स्तुत किया जाता हुआ२ एवं (वीतये 'गृणानः') ज्ञानमयकान्ति के लिये साक्षाज्ज्योतिःप्राप्ति के लिये३ स्तुत किया जाता हुआ (आ याहि) आ--आकर भासित होकर (होता बर्हिषि नि-सत्सि) मेरे अध्यात्म यज्ञ का होता--सम्यक् सम्पादनकर्ता ऋत्विक् बना हुआ उस अध्यात्म यज्ञ के सदन हृदयाकाश में आसन--हृदयासन पर विराजमान हो।

प्रिय परमात्मन्! तू स्तूयमान है--स्तुति करने योग्य है, मैं जो अपनी हवि-भेंट-तेरे प्रति निजात्मसमर्पण करना चाहता हूं उसमें तू स्तुति के योग्य है, कारण कि मैं चेतन हूं ज्ञानवान् हूँ, परमात्मन्! तू भी चेतन है ज्ञानवान् अपितु मुझे चेताने वाला ज्ञान देने वाला है, तब मेरा तेरे प्रति समर्पण हो तू

---

१ पुस्तक के अन्त तक प्राय. देवता अग्नि चलेगा भिन्न को ही देंगे।

२ "कर्मणि कर्तृप्रत्ययः" छान्दसः।

३ "वी गतिकान्ति " (अदादि०)।

इस योग्य है। जड़ के प्रति मेरा समर्पण अयोग्य है, कारण कि उसमें समर्पण सम्भव नहीं है वहाँ समर्पण मानना और करना प्रवञ्चना और चेतनत्व का पतन है, और फिर जड़ मेरे हाव-भाव को नहीं जान सकता जड़ नश्वर है उससे प्राप्त हित या सुख भी क्षणिक है, अतः वह स्तुतियोग्य नहीं। परमात्मन्! तू जानता है कारण कि तू ज्ञानस्वरूप है, अन्तर्यामी है। अत एव जैसे ही समर्पण के लिए मैं भावना करता हूं तेरी ओर प्रवृत्त होता हूं तू तुरन्त मुझे अपना लेता है; अपना बना लेता है, चेतन में ही चेतन समागम पाता है जड़ में जड़। परमात्मन्! तेरी ज्ञान ज्योति साक्षात् प्रकाश प्राप्ति को मैं चाहता हूं। मुझ चेतन में प्रकाश तुझ चेतन का ही आ सकता है और उस प्रकाश को तू मुझ में दे सकता है, जड़ का प्रकाश मुझ चेतन में आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकता, वह तो बाहिर नेत्र तक रहता है, अत एव मैं तेरी स्तुति करता हूँ कृपा करके मेरे अन्दर आकर मेरे अध्यात्म-यज्ञ सदन में हृदयासन पर विराजमान हो इसे चलावें, अपने निर्मल प्रकाश से मुझे प्रकाशमान करें हृदय सदन में विराजमान होने का सामर्थ्य अन्य जड़ वस्तु में नहीं अन्य गन्धवान् आदि तो नासिका जिह्वा नेत्र त्वचा कान तक ही रह जाते हैं। मैं तेरे प्रति निजात्मसमर्पण हवि को उत्तरोत्तर वेग संवेग से प्रदान करता रहूंगा जिससे तेरी ज्योति प्रबुद्ध दशा में प्राप्त होती चली जावे, कारण कि भौतिक अग्नि की ज्योति भी तो हविष्प्रदान से ही प्रवृद्ध होती है। "वाक्चक्षुः

श्रोत्रात्ममनसां समर्पणमात्मसमर्पणं भवति।" परमात्मा के प्रति वाक् (वाणी), नेत्र, कान, मन और आत्मा का समर्पण यह पञ्चायतन समर्पण आत्म-समर्पण है। वाक् (वाणी), नेत्र, कान और मन का समर्पण तो आत्मसमर्पण द्वारी भूत या द्वार-मात्रता से है परन्तु आत्मा का समर्पण साक्षात् रूप से है। वाक् (वाणी), आँख, कान से श्रवण*, मन से मनन, आत्मा से निदिध्यासन बनता है। वाणी से "त्वां कामये गिरा······ (साम० पू०। १। १। ८) परमात्मन्! मैं तुझे वाणी से (वाणी द्वारा स्तुति से चाहता हूँ। "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" (ऋ० १। ८६। ८) भद्र--भजनीय परमात्मा को कानों से सुनें, आँखों से देखें। "तन्मे मनः शिव-सङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४। १) मेरा मन शिव-कल्याणस्वरूप परमात्मा का सङ्कल्प करने वाला हो-चिन्तन मनन करने वाला हो "आत्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश" (यजु० ३२। ११) स्वात्मा से परमात्मा में सम्यक् प्रवेश करे॥ १॥

---

* अपनी वाणी से निकले स्तुतिवचन अपने कान सुनते ही हैं। नेत्र से अध्ययन श्रवण--शिक्षा ग्रहण है। कर्मेन्द्रियों में से वाक् इन्द्रिय ही परमात्मा के प्रति समर्पण में साधन है अन्य कर्मेन्द्रियां नहीं अतः "हाथ जोड़ झुकाए मस्तक" प्रार्थना नितान्त अवैदिक है, बाहिरी शरीर धारी के आगे करने का व्यवहार है अन्तर्यामी सर्वव्यापक के प्रति नहीं। ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के विरुद्ध भी है। "परमेश्वर··· तुम्हारे हाथों में क्यों हाथ जोड़ते हो शिर में क्यों शिर नमाते हो।"
(सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास)

ऋषिः--पूर्ववत् ।

समस्त यजनीय कर्मों के प्रवर्तन का हेतु परमात्मा--

त्वमग्ने यज्ञाना॑ँ होता विश्वेषा॑ँ हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (त्वं विश्वेषां यज्ञानां होता) तू समस्त यज्ञों—यजनीय भावनायुक्त श्रेष्ठकर्मों का होता—सम्पादनकर्ता ऋत्विक् (मानुषे जने देवेभिः-हितः) मानुष जगत्—मानव समाज में वर्तमान विद्वानों ने धारा-माना निश्चित किया। तथा (मानुषे जने विश्वेषां यज्ञानां होता देवेभिः-हितः) मानव समाज में होने वाले चलने वाले किये जाने वाले एवं मानव समाज के निमित्त अपितु मानुष लोक—मर्त्यलोक—संसार में वर्तमान समस्त यज्ञों—यजनीय श्रेष्ठकर्मों का सम्पादनकर्ता देवों—ऋषियों ने तुझे धारा—निर्धारित किया एवं 'हितः-आहितः' अपने अन्दर आधान किया कर्मकाण्ड यज्ञ में अग्न्याधानवत्—भौतिक अग्नि की भाँति संस्थापित और प्रकाशित किया।

हे परमात्मन् ! मैं क्या कहूँ ? मात्र मेरे अध्यात्म यज्ञ का ही तो तू सम्पादनकर्ता नहीं किन्तु मानव समाज में जितने भी यजनीय भावना वाले श्रेष्ठ कर्म हैं—भूखों को भोजन दान, पीड़ितों का त्राण, आतुरों को स्वास्थ्यप्रदान, गवादि रक्षा-

विधान, विद्या कला शिक्षण प्रदान, कर्मकाण्ड यज्ञविधान के सम्पादनकर्ता आप ही तो हो। आपको ही लक्ष्य करके – आपके नाम पर—आपके आदेश से ही चलते और फलते हैं। वेद-द्वारा आपके ही आदेश तथा मानवों के अन्तःकरण में आपकी प्रेरणा से ही ये सब यज्ञ—यजनीय श्रेष्ठ कर्म होते हैं। अपितु भूमण्डल पर एवं संसार में समस्त यजनीय कर्म आपके शासन से चल रहे हैं, बीज से भूमि में यजन अंकुरादि द्वारा वृक्ष विकास एक दाने से सहस्र दाने रूप प्रसार एक प्राणी शरीर से अनेक प्राणिसन्तति विविध अङ्गविकास नदी स्रोतों का विपुलप्रवाह पर्वतमालाएं आकाश में विद्युद्धारा का प्रसार द्युलोक से किरणसञ्चार ग्रह तारों का भिन्न-भिन्न गतिप्रकार और क्रमिक सञ्चार सब आपके नियम से चल रहा है ऐसे विज्ञ विद्वानों ने जाना और माना है। अतः मेरे अध्यात्म यज्ञ के सम्पादनकर्ता परमात्म देव मेरे हृदयरूप यज्ञसदन में सुचारुरूप से चलाओ अपने समागम से मुझे हर्षाओ ॥ २ ॥

ऋषिः – काण्वो मेधातिथिः (मननशील[1] का शिष्य मेधा से अतनशील विद्याविषय में प्रवेशशील)

परमात्मा आत्मयाजी के दोष दूर कर उसे सुखैश्वर्यसम्पन्न कर देता है :—

---

१ "कण निमीलने" (चुरादि०) कण्वः नेत्रनिमीलन पर मिलन।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥

(अस्य यज्ञस्य) इस अध्यात्म यज्ञ के (होतारम्-अग्निम्) सम्पादनकर्ता परमात्मा को (दूतं विश्ववेदसं सुक्रतुम्) दूत—अपने सन्देशवाहक-विघ्नविनाशक-अग्रगन्तार२,समस्तैश्वर्यवान्३, सुकर्मा सुप्रज्ञानवान्४ होते हुए को (वृणीमहे) वरता हूं अपनाता हूँ ।

मेरे अध्यात्मयज्ञ का होता—सम्पादनकर्ता परमात्मा केवल होता ही नहीं किन्तु यह तो दूत—सन्देशवाहक भी है, लोक की भांति यह अन्य का सन्देशवाहक नहीं परन्तु सृष्टिकर्तृत्व नियन्तृत्व कर्मफलदातृत्व से अपनी सत्ता का तथा अध्यात्मयज्ञ रचाने का सन्देश देता है—"पत्ती पत्ती की कतरन न्यारी तेरे हाथ कतरनी कहीं नहीं । फूल फूल का रंग निराला हाथ में रंगभरणी कहीं नहीं ॥" केले का पत्ता थान और कमल का पत्ता थाल सा बढ़ता हुआ बनाया । तथा "वसन्त तेरी याद दिला रही है,

---

२ "दु उपतापे" (स्वादि०), 'दु द्रु गतौ" (भ्वादि०)
"दूतो देवानामसि" (निरु० ५ । १)
३ 'वेदस् धमनाम" (निघं० २ । १०)
४ "क्रतु: कर्मनाम" (निघं० २ ।)
"क्रतु: प्रज्ञाननाम" (निघं० ३ । ९)
५ "अस्मदो द्वयोश्च" (अष्टा० १ । २ । ५९)

कोयल तेरी कूक सुना रही है, पत्ती पत्ती तुझे दर्शा रही है, महिमा तेरी मन भा रही है, फूल कली तेरा राग सुना रही है ।।" पृथिवी चन्द्र आदि की नियमित घूम तुझे दर्शा रही हैं। मनुष्यों की सकलाङ्गता और विकलांङ्गता भी तेरे कर्मफलदातृत्व को सुझा रही है ।। अपितु तू दूत—विघ्नविनाशक भी महान् है, द्रव्ययज्ञ में उपद्रवियों द्वारा करे विघ्नों का विनाश शस्त्रधारी जैसे किया करते हैं ऐसे परात्मा अध्यात्मयज्ञ के विघ्नों का विनाशक है, योगदर्शन में कहा भी है "अन्तरायाभावश्च" (योग० १ । १६) तथा दूत—देवों का अग्रगन्ता या अग्रसर जीवनयात्रा में है देह में दिव्यतत्त्वों का वास कराता है मन में दिव्यगुणों को लाता है, मुमुक्षुओं को मार्ग दर्शाता है। अन्यत्र वेद में कहा भी है "अग्ने नय सुपथा" (यजु० ४० । १७)। परमात्मा समस्त ऐश्वर्यवान् है उससे समस्त ऐश्वर्य पाते हैं, भौतिक देव तो एक ही वस्तु का प्रदान करता है पृथिवी को गेहूँ भेंट देने पर वह गेहुं ही देती है चने से चने आम से आम आदि, इन सब का भी मुख्यप्रदानकर्ता परमात्मा ही है यह तो है ही परन्तु परमात्मा तो अध्यात्मयज्ञ में स्तुतिसमर्पण से सकल सङ्कल्पित अभीष्टों का वरदान और तथा सर्वोच्च ऐश्वर्य-सम्पत्तिरूप मोक्ष को भी प्रदान करता है, जिस मोक्ष में काम, निकाम, आनन्द, मोद, मुद, प्रमुद, स्वधा, तृप्ति अष्टसुखसम्पत्ति है। इस प्रकार वह मेरे अध्यात्मयज्ञ का सम्पादनकर्ता मेरा इष्टदेव समस्त सुखसम्पत्ति का स्वामी है। वह मेरे अध्यात्मयज्ञ

का सुक्रतु-सुकर्मकर्ता और सुप्रज्ञानवान् भी है, कर्मकाण्डयज्ञ में ब्रह्मा बनाया जाता है जो प्रज्ञान-मन्त्र—मन्त्रविज्ञान को अच्छा जानने वाला तथा कर्म-विधिविधान के प्रयोग में प्रवीण हो, फिर भी उससे भी अन्यथा कर्म की वृद्धि और यथार्थ कर्म की क्षति की सम्भावना है, कहा भी है— 'यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्" (शत० १४ । ६ । ४ । २४) जो इस कर्म को विधिविधान से गर्वित हो अन्था बढा दिया या जो प्रमादी भ्रान्त हो घटा दिया उसे परमात्माग्नि अच्छा यजनीय करदे। वह सुक्रतु परमात्मा मेरे अध्यात्मयज्ञ का प्रसार करे तथा सुख सौम्यता और शान्ति का प्रसाद प्रदान करे ॥३॥

ऋषिः—भरद्वाजः (अर्चन ज्ञानबल को धारण करनेवाला)।

परमात्मा उपासक की आवश्यकताओं को पूरा करता है—

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्यु र्विपन्यया।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥४॥

(अग्निः) ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा (विपन्यया)हमारे द्वारा की गई विविध स्तुति से-ध्यानोपासना से(समिद्धः शुक्रः-आहुतः) प्रदीप्त किया किया हुआ, प्रकाशमानरूप में आया हुआ, भलीभांति हृदय में बिठाया हुआ स्वीकार किया हुआ अपनाया हुआ (द्रविणस्युः) हमारे लिये ज्ञानसुखैश्वर्य चाहने वाला

❀ "छन्दसि परेच्छायां क्यच् ।"

*बनकर (वृत्राणि जङ्घनत्) आवरकों ज्ञानसुखैश्वर्य के प्रतिबन्धक अज्ञान रोग दुःख दारिद्र्य को भली प्रकार नष्ट करता है।

परमात्मदेव की जब मानव प्रबल स्तुति करता है और अन्दर आधान करता है बिठाता है तो वह मानव के अन्दर प्रदीप्त प्रकाशित होकर अन्दर के अज्ञानान्धकारदि शत्रुओं एवं बाहिरी बाधकों को भी भली भांति विनष्ट करके उपासक के हित लोक सुख और अध्यात्मैश्वर्य को चाहता है, पूरा करता है, उस समय मानव की जो भिन्न-भिन्न कामनाएं रहा करती हैं वे सब विना मांगे मिल जाती हैं—पूरी हो जाया करती हैं, सचमुच मनुष्य चाहना को बढ़ा बढ़ा कर अपने को अशान्त कर लेता है। यदि वह एक परमात्मा को ही चाहे तो उसके चाहने पर किसी अन्य चाह की आवश्यकता नहीं रहती। जब सब चाहनाओं के स्वामी के प्रति अपने को समर्पित कर दिया उसकी शरण को पा लिया तब चाहना का क्या अवसर? अतः मैं उसके अर्चन ज्ञान बल को धारण करूँ यही मेरी चाहना बनी रहे अन्य नहीं। मानव की चाहनाओं के बाधक प्रथम दूर होने चाहिएं। पश्चात चाहने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो ही जाती है। वह बाधकों को हटाता और साधको को जुटाता है, योग्य पुत्र की अभीष्टसिद्धि का ध्यान पिता को होना स्वाभाविक है॥ ४॥

ऋषिः—उशनाः (अपने कल्याणार्थ परमात्मसङ्गति को चाहने वाला१)।

परमात्मा उपासक के हृदय में सम्मान्य अतिथि और प्रिय मित्र बन कर रमण किया करता है—

प्रेष्ठं वो अतिथिꣳ स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (वः) तुझर (मित्रम्-इव प्रियम्) मित्र समान प्रिय को। तथा (वेद्यं रथेन) वेदि—पृथिवी३ पर रमण करने योग्य रथ की भांति मेरी अन्त-र्वेदि—हृद्भूमि में रमण करने वाले (प्रेष्ठम्-अतिथिं स्तुषे) उन दोनों से भी अधिक प्रिय अतिथिदेव की मैं स्तुति करता हूं।

परमात्मन्! तू मेरा प्रियतम अतिथि है मैं तुझे चाहता हूं तू मेरे घर में आता है और प्रियतम अतिथि बन कर आता है, परन्तु तू आकर चला ही नहीं जाता किन्तु स्थिररूप से विराज-मान हो जाता है अथवा निरन्तर आता रहता है, अतः तेरी स्तुति करता हूं। मित्र का मित्र सङ्गी होता है और वह बहुत स्वागत सत्कार या आडम्बर पर ध्यान नहीं देता, वह तो अपने जैसा गुण धर्म देखना चाहता है। ठीक है मेरे प्रियतम अतिथि परमात्मन्! तेरा आतिथ्य भी किस वस्तु से किया जावे। वस्तुएं सब तेरी ही दी हुई हैं, बस जैसे मित्र से मित्र स्नेहभरी स्तुति से प्रसन्न रहता है ऐसे ही मैं भी तुझ प्रियतम अतिथि को मित्र

---

१ "··· वशेः कनसि" (उणादि० ४। २३४ उशनाः)

२ "वः-त्वाम्" व्यत्ययेन आदरार्थं वा बहुवचनम्।

३ "पृथिवी वेदिः" (ऐ० ५। २८)।

बना कर तेरी स्नेहभरी स्तुति करता हूँ। परमात्मन्! तू मेरी हृद्भूमि पर रमण करने वाला है, जैसे रथ (यान) पृथिवी पर रमण किया करता है वैसे ही तू भी मेरे हृदय में रमण करता हुआ आता है तू निरन्तर रमण करता रह यह मैं चाहता हूँ, रमण बन्द न हो रमण में रथ का स्थान ऊँचा है वह देह का सहारा है अतः वह प्रिय है और स्नेह में मित्र का स्थान ऊँचा है वह मन का सहारा है अतः वह प्रियतर है, रथ और मित्र की अपेक्षा समर्पण करने में अतिथि (पूजनीय गुणवान् विद्वान्) का स्थान अधिक ऊंचा है वह आत्मा का सहारा है अतः वह प्रियतम है। परमात्मन्! तू मेरा सर्वश्रेष्ठ और सर्वविध सहारा है। यान में रमण और चेतन में स्नेह किया जाता है तथा चेतन ही स्नेह करता है, पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध चेतनों में घटता है परन्तु सम्मान तो गुणवान् विद्वान् के प्रति ही आत्मा में स्थान लेता है। परमात्मन्! जड़ में स्थायी रमण नहीं होता उसके अङ्गभङ्गशील होने से, अन्य चेतनों में स्नेह निर्बाध नहीं बनता है उनसे वियोग हो जाने से तथा उनके रूठ जाने की सम्भावना से, परन्तु तेरे साथ स्नेह में उक्त दोष नहीं। जड़ वस्तुओं में बाहिरी जीवन का सहारा रथ है जहां तहां रमण कराने वाला है अपने अन्दर सुरक्षित बिठाकर रमण कराता है सो तू भी अपने अन्दर बिठाकर जीवन्मुक्त को ऐहिकैश्वर्य क्षेत्र में और मुक्त को मोक्ष में अव्याहतगति से रमण कराता है। जबतक इस देह में रहूं तो हृद्भूमि में ऐहिकैश्वर्य में रमण कराता हुआ निजगति गुंजार से सुखी करता रह, तू मित्र बनकर मेरे स्नेह को स्वीकार कर मुझे अपने स्नेह का प्रसाद देता रह, तू मान्य अतिथि बनकर मेरी भेंट समर्पण अङ्गीकार करके अपनी आनन्दमय अमृत शरण दे ॥५॥

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीढौ (अच्छा दान करनेवाला और बहुत सुख साधन से सिक्त)।

परमात्मा से अपनी कृपणता और द्वेषभावना को दूर करने की प्रार्थना या बल याचना—

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मन्! (त्वम्) तू (मर्त्यस्य) मनुष्य के—मनुष्य के अन्दर वर्तमान (विश्वस्याः-अरातेः) समस्त अदानभावना—कृपणता से (उत) अपि-और (द्विषः 'विश्वस्याः' द्विषः) समस्त द्वेषभावना से (महोभिः) अपने महत्त्वों महिमाओं—ज्ञानानन्दगुणबलों के द्वारा (नः-पाहि) हमारी रक्षा कर।

मानव के अन्दर दो बड़े भारी दोष हो जाते हैं जिनमें एक है स्वार्थपरायणता संकुचितता या कृपणता, और वह अनेक प्रकार की है सूक्ष्म दृष्टि में वह राग कहलाता है, अपने पास आवश्यकता से अधिक होनेपर दूसरे को न देना चाहे दूसरे पर महासंकट भी क्यों न आ पडे। इसे वेद की भाषा में अराति कहा गया है जो कि न देने की भावना है। धन है पर दूसरे को दान न देना, अन्न है भोजन है पर दूसरे को न खिलाना, विद्या है ज्ञान है पर दूसरे को न पढ़ाना न सिखाना, शरीर में बल है शक्ति है पर दूसरे का त्राण न करना। यह दोष परमात्मा के उपासक में न होना चाहिए, जो परमात्मा का उपासक हो उस में यह दोष रह नहीं सकता,क्योंकि परमात्मा बड़ा उदारहै उसने विना भेदभाव के सब के लिए अन्न फल जलवायु प्रकाश आदि पदार्थ दिए हैं तभी उससे प्रार्थना है कि हे परमात्मन्! मेरे

अन्दर से अराति--न देने की भावना-स्वार्थपरायणता कृपणता को दूर करके उदारता प्रदान कर। पुरुमीढ बहुत सुख साधन सम्पत्ति से सिक्त वही है जो अपने लिए ही नहीं, किन्तु दूसरे के लिए भी उसका उपयोग करे अन्यथा कृपणता तो मानव को शुष्क कर देती है ताप सन्ताप ही देती है। दूसरा दोष आ जाता है द्वेषभावना और वह भी भांति भांति का। अपना अपकार करने पर अपकारकर्ता से प्रतिवर्तन (बदला) लेने की इच्छा, आवश्यक या अभीष्ट वस्तु न देने पर प्रतिरोधरूप वैमनस्य रखना, बाधक या प्रतिद्वन्द्वी बनने पर उसे हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति हो जाना, दूसरे की वृद्धि को न सहन कर सकने से ईर्ष्या का बैठ जाना। द्वेष भावना भी मन को विचलित कर देती है शरीर और मस्तिष्क को सुखा देती है। परमात्मा के उपासक के अन्दर यह दोष भी नहीं रहना चाहिए। क्योंकि परमात्मा किसी से द्वेष नहीं करता है वह सब का मित्र है सब से स्नेह करता है सब का हित चाहता है। अतः द्वेष को दूर करके ही परमात्मा का स्नेहभाजन बनता है तभी यहां वेद में प्रार्थना है, परमात्मन्! द्वेष भावना दूर कर दे। सब प्रकार की द्वेष भावना को दूर करके अभयदान देकर ही सुदीति सुन्दर दानदाता बनना है। अपने अन्दर से कृपणता और द्वेष-भावना को दूर करके ही मानव अन्य की कृपणता और द्वेष भावना से बचकर पुरुमीढ और सुदीति बन अन्यों की उदारता और मित्रता का पात्र बनता है ॥ ६ ॥

ऋषिः—भरद्वाजः (परमात्मा के अर्चन ज्ञानबल को धारण करने वाला)।

उपासना काल और व्यवहार काल में समान सत्य व्यवहार करना चाहिये—

एह्यू षू ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (ते) तेरे लिए (इतराः-गिरः-उ-इत्था सु ब्रवाणि) उपासनाकाल से भिन्न व्यवहार काल में भी वाणियां अवश्य सत्य[1] बोलूं (एभिः-इन्दुभिः-वर्धासे) इन अध्यात्म और व्यवहारकाल में सोमों[2]—सत्य वचनों—मृदु वचनों—सरल वचनप्रवाहों—स्तुतियों[3] से तू बढ़ता है—साक्षात् होता रहता है । अतः (एहि) हृदयरूप यज्ञसदन में आ ।

परमात्मा की सत्य स्तुतियां उपासना काल में बोलें ऐसे ही व्यवहार काल में भी सत्य बोलें जीवन में चरितार्थ करें, ऐसा नहीं कि व्यवहारकाल में असत्य या विपरीत बोलें और आचरण करें । सदा सत्य बोलना सत्य आचरण करना चाहिए । जैसे उपासनाकाल में परमात्मा की स्तुति की जावे वैसे व्यवहार काल में उसे मानना जीवन में चरितार्थ करना यथावत् या सच्ची स्तुति है, नहीं तो वह प्रवञ्चना ही है, परमात्मा भीतर बाहिर की सब जानता है वह प्रवञ्चना में नहीं आ सकता है । मानव का भीतरी और बाहिरी जीवन का अवलम्ब एक ही सत्य ही होना शोभनीय है इसी से परमात्मा का साक्षात्कार बढ़ता जाता है, परमात्मा सत्यस्वरूप है "सत्यश्चित्रः श्रवस्तमः" (ऋ० १ । १ । ५) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै०उ०

---

१ "इत्था सत्यनाम" (निघं० ३ । १०)
२ "सोमो वा इन्दुः" (शत २ । २ । ३ । २३)
३ "इन्दुर्यज्ञनाम" (निघं० १ । १७)

२ । १) 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" (मुण्ड० ३ । १ । ५) वह सत्यस्वरूप सत्य से प्राप्त होता है ॥७॥

ऋषिः—काण्वो वत्सः (मेधावी का शिष्य वक्ता स्तुतिकर्ता)

स्तुतिकर्ता अपने स्तुतिबल से मोक्षधाम से परमात्मा के मननीय स्वरूप को अपने हृदय में खींच लेता है—

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्तात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ८ ॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (वत्सः परमात्-चित् सधस्तात्) तेरे गुणों के वक्ता* स्तुतिकर्ता परम सहस्थान—अत्यन्त समागम स्थान—मोक्षधाम से भी (ते मनः-आयसत्) तेरे मननीय स्वरूप को स्वात्मा में आयत कर लेता है—धारण कर लेता है—खींच लेता है । अतः (त्वां गिरा कामये) एतदर्थ तुझे स्तुति के द्वारा चाहता हूँ ।

हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! यद्यपि तू सर्वव्यापक है--परन्तु कैवल्य दृष्टि से ही तेरा स्थान परम सधस्थ—परम सह-स्थान है, जहां कि मेरा परमसहवास तेरे साथ होता है वह मोक्षधाम ही है । संसार में रहते हुए भी तेरा जो और जितना समागम होता है वह 'परमसधस्थ'—परमसहस्थान मोक्षधाम से उपासक अपने धाम अवमसहस्थान--हृदयप्रदेश में तेरी स्तुति के द्वारा तेरे मननीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, यह स्तुति का महत्त्व या स्तुति में बल है । अतएव मेरे प्रियतम पर-मात्मन् ! मैं तेरी स्तुति के द्वारा तुझे अपना अङ्गसङ्गी बनाना चाहता हूं, जब तक कि परमसहस्थान मोक्षधाम तक मैं न पहुंच

* "वदः सप्रत्ययः" (उणादि० ३ । ६२)

जाऊँ तब तक मैं अपने हृदय सदनरूप अवमसहस्थान में तेरा समागम कर सकूं। अतः मेरे घर में—हृदय सदन में तू आ, यावज्जीवन मैं तेरा स्तुतिकर्ता बना रहूं, तू भी मुझे अपना दर्शन लाभ देता रह यह मेरी कामना है और बनी रहे॥ ८॥

ऋषिः—भरद्वाजः (अर्चन ज्ञानबल को अपने अन्दर धारण करने वाला)।

परमात्मा का साक्षात् प्रकाश हृदय में मन्थन से होता है—

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥९॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (त्वाम्) तुझे (अथर्वा) स्थिरवृत्ति वाले ध्यानीजन ने (विश्वस्य मूर्ध्नः-वाघतः) समस्त प्राणिमात्र के मूर्धारूप—मूर्धन्यभूत तथा समस्त प्राणिमात्र के वहन करने वाले वाहक निर्वाहक१ (पुष्करात्-अधि) पुष्कर-वपुष्कर-शरीरनिर्माण करने वाले२ हृदयकमल३ हृदयावकाश में (निरमन्थत) निर्मथित किया—साक्षात् किया।

परमात्मा के सत्सङ्ग का परम धाम तो मोक्ष है परन्तु अवम सहस्थान हृदय शरीर के रहते हुए है, यह हृदय इस देह का पुष्कर—निर्माण और रक्त एवं प्राणों का वहन करने वाला देह

---

१ "वाघतो वोढारः"—"वाघत् वोढा" (निरु० ११। १६)

२ "पुष्करं वपुष्करम्" (निरु० ५। १४)

३ "पुष्करं पुण्डरीकम्" (तां० १८। ९। ६) "पुष्करमन्तरिक्षम्" (निरु० १। ३)

कार्यों का निर्वाहक प्रमुख अङ्ग या प्रदेश आत्मा का गृह या सदन है; यहीं पर परमात्मा का प्रकाश अभ्यास और वैराग्य के सम्मिश्रण या घर्षण से या सगुण और निर्गुण स्तुतियों के निर्मन्थन से होता है जैसा दो काष्ठों के अनुलोम प्रतिलोम मन्थन से या खनिज पदार्थों के मिश्रण से या जलप्रपात से अग्नि प्रकाशित होता है। परन्तु चाहे अभ्यास और वैराग्य हो चाहे सगुण और निर्गुण स्तुतियां उनका सम्मिश्रण या संघर्षण हो वेग संवेग से। जितना जितना वेग संवेग होगा उतना तीव्र या प्रवृद्धरूप में साक्षात्कार होगा और शीघ्र होगा। यह अभ्यास और वैराग्य या सगुण और निर्गुण स्तुतियों का तार न टूटे एवं मैं अपने को उसके ज्ञानानन्द प्रकाश से भरपूर करता रहूं ॥९॥

ऋषिः—वामदेव (ज्ञान गति प्राप्ति करने वाला)।

परमात्मा अपने दर्शनार्थ हमारे अन्दर उपासना कर्म की शक्ति प्रदान करे—

अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे।

देवो ह्यसि नो दृशे ॥१०॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (महे-ऊतये) महती रक्षा—कल्याणसिद्धि के निमित्त (विवस्वत्-आभर) विशिष्ट सुखवास का हेतु सकर्मज्ञान प्रकाश—अभ्यास वैराग्य रूप अनुष्ठान धारण करा या हमारे अन्दर भर दे (देवः-हि-असि) तू इष्टदेव ही है।

मेरे प्रियतम परमात्मन्! तू मेरे अन्दर विशिष्ट उत्कृष्ट अपना वास कराने वाले स्तुति प्रार्थना उपासनाशक्तिरूप अभ्यास वैराग्य बल को प्रदान कर, कारण कि मानव की रक्षा

या मानवता तो इसी पर निर्भर है। मनुष्य कहते उसी को हैं जो मननशील होकर विचित्र संसार और भांति भांति के प्राणि-शरीरों की रचना को देखकर जिसने मनन किया, इन विविधताओं और रचनाओं पर ध्यान दिया। उसका भी क्या जीवन है? जो अन्य पशु पक्षियों की भाति खा-पी कर मर जाता है। यह मानवता या मानव की रक्षा या उसकी अमरता नहीं है। मानव को मनन कर अपनी रक्षा कर अपने को मृत्युप्रवाह से बचाना है पुनः परमात्मा के चिन्तन स्मरण ध्यान से उसका साधारण दर्शन या आभास संसार में कराकर विशेष दर्शन आत्मा में कराता है। सचमुच परमात्मा ने यह संसार और शरीर दिया भी है अपने दर्शन के लिये अपनी ओर आने के लिये अपना साक्षात् समागम कराने के लिये। धन्य हो कृपालो दयालो भगवन्! मैं वस्तु वस्तु में तेरा मनन करते करते एक दिन तेरा सेवन संसेवन कर सकूंगा ॥१०॥

द्वितीय दशति

ऋषिः—आयुङ्क्ष्वाहिः (प्रबल आयोजन का वक्ता जन*।)

काम आदि दोषों को दूर करने के लिये परमात्मा से बल की याचना करना—

नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देवकृष्टयः।
अमैरमित्रमर्दय ॥१॥

---

* 'आयुङ्क्ष्व'-त्वमायोजनं कुरु-इति-आह ब्रवीति स आयुङ्क्ष्वाहिः-अत्र बाहुलकात् किः प्रत्यय औणादिकः।

(अग्ने देव) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मदेव ! (कृष्टयः) तुझे अपनी ओर कर्षणशील उपासक जन+ (ओजसे) तेरे ओजके—ओजस्वी होने के कारण एवं तुझ से अपने अन्दर ओज धारण और प्राप्त करने के लिये (ते नमः-गृणन्ति) तेरे लिये नमस्कार उच्चारण करते हैं× (अमित्रम्-अमैः-अर्दय) अध्यात्मयज्ञ के घातक काम क्रोधादि शत्रु को बलों के द्वारा॰ हमारे अन्दर प्रादन किए बलों से हमारे द्वारा दूर करा १ नष्ट करा।

प्रिय परमात्मन् ! हम तेरी ओर आना चाहते हैं परन्तु कुछ

+ "कृष्टयो मनुष्यनाम" (निघं० २। ३)

× "नमः" शब्द का सम्बन्ध वैदिक और आर्ष पद्धति में वाणी के साथ है किसी बाह्य अङ्ग के साथ नहीं है, जो शरीर से झुकना अर्थ लिया जाता है वह अवैदिक और अनार्ष है। 'नमः-गृणन्ति' तथा "नम उक्तिं विधेम" (यजु० ४०। १६) नमस्कार की उक्ति समर्पित करते हैं। "नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः" (ऋ०१। २७। १३) बड़ों के लिये नमः छोटों के लिये नमः। कथन से स्पष्ट ही है कि झुकना अर्थ नहीं है किन्तु यथायोग्य स्वागत वचन यथायोग्य स्नेहमय वाग्व्यवहार है। 'नमः' का अर्थ वज्र भी है और अन्न भी है "नमो-वज्र नाम" (निघं० २। २०) "नमोऽन्ननाम" (निघं० २। ७) पौराणिकों ने 'नमः' के झुकना अर्थ लेकर साष्टाङ्ग (शिर, दोनों हाथ, छाती, दोनों घुटने, दोनों पैरों द्वारा) दण्डवत् झुकना प्रचलित कर दिया, चाहिए तो था परमात्मा के प्रति समर्पणार्थ उपासनामार्ग साष्टाङ्ग-योग का अनुष्ठान करना।

॰ "अमो बलम्" (निरु० १०। २१)

१ "अर्द गतौ" (भ्वादि०); "अर्द हिंसायाम्" (चुरादि०)

शत्रु हैं जो तेरी ओर आने से रोकते हैं हमारे ऊपर भांति भांति की गतिविधियों से प्रहार करते हैं वे शत्रु बाहिर के नहीं, बाहिर के शत्रुओं से तो रक्षा सम्भावनीय है उनसे बचकर या छिप कर तेरे पास पहुंच जाना हो सकता है परन्तु वे तो भीतरी शत्रु काम क्रोध लोभ मोह आदि हैं जो कि तेरी ओर आते हुए सामने आ खड़े होते हैं तुझ तक पहुंचने को रोकते हैं केवल रोकते ही नहीं किन्तु जो कुछ उन्हें अभीष्ट है वह बिगार लेते हैं। आप मुझे अपना ओज बल प्रदान करें, आप तो ओजःस्वरूप हैं अग्नि के समान हैं अपितु अग्नि के भी अग्नि हैं, जैसे अग्नि आवरक अन्धकार को मिटाता है वस्तु के दोषों और घातक रोगों रोगकारणों को अन्दर से निकाल भगाता है ऐसे आप उससे भी अधिक ओजस्वी हैं वह भी आप से बल लिये हुए है। आप मेरे अन्दर अपना ओज भर दें "ओजोऽस्योजो मयि धेहि" (यजुर्वेद) इस अप्रतिहत ओज को प्रदान करके मेरे अन्दर के शत्रु को मेरे द्वारा दूर करा। परमात्मन्! उन दोषों से जो मैं आक्रान्त हूँ मैं तुझ से बल पाकर अपने को तेजस्वी और दिव्य बना उन्हें भगा दूं और अपने कार्यों उच्च लक्ष्यों में प्रगति और प्रेरणा देस कूं ॥१॥

ऋषिः—वामदेवः (ज्ञान गति प्राप्ति शील श्रेष्ठ विद्वान्)

द्वोषविनाशक सुखैश्वर्यप्रद तथा निज समर्पण को स्वीकार करने वाले देव को स्तुति से अर्चित करना—

दूतं वो विश्ववेदसꣳ हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥२॥

(दूतम्) निज सन्देशवाहक, कामक्रोधादि शत्रु को विनष्ट

करनेवाले, समस्त देवों—विद्वानों के अग्रसर एवं दिव्यगुणों के प्रेरक (विश्ववेदसम्) सकलैश्वर्यवान् मोक्षैश्वर्यप्रद (हव्यवाहम्) मेरे हावभावपूर्ण आत्महवि को लेनेवाले अपने मोक्षधाम में स्वीकार करनेवाले (अमर्त्यम्) मर्त्य–मरण –धर्मी मनुष्य-विषयक दुःखदारिद्र्य अज्ञान भ्रान्ति जन्ममरण प्रवृत्ति से रहित (यजिष्ठम्) मेरे अध्यात्मयज्ञ के महान् सम्पादक (वः) तुझ ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा को (गिरा) स्तुतिरूपवाणी से (ऋञ्जसे) प्रसाधित करता हूँ--अनुकूल बनाता हूँ--अपने अन्दर संस्थापित करता हूं।

ओजस्विन् परमात्मदेव ! तू अपना सन्देश देनेवाला, मेरे काम क्रोध मोह व्यसन वासना आदि शत्रु को विनष्ट कर देने वाला, मेरे अन्दर दिव्यगुण भरनेवाला सच्चा अग्रणेता है तथा तू अमर्त्य है मैं मर्त्य हूं कारण कि मैं कामनाओं के पीछे पड़ा मर्त्य बना हुआ हूँ, कामनामय मन बन्धन का कारण है "बन्धाय विषयासक्तम्" (मैत्र्यु० ६। ६। १०) तथा "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" (कठो० २। ६। १४) काम भोगों के वश मर्त्य— मरणधर्मी बनता है कामना पूरी न हुई कमनीय भोग न मिले तो मैं मरा—कमनीय भोगों के अति सेवन से रोगी हो हाय मैं मरा—उनके नष्ट होने पर हाय मैं मरा—इस प्रकार मर्त्य बनता है। परमात्मन् ! तू कामवासना से परे है मेरे अन्दर से काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करके निर्दोष और दिव्यगुण सम्पन्न करदे। परमात्मन् ! तू अपने उपासक को मोक्ष धाम में पहुंचाने वाला है तू अत्यन्त यजनकर्ता है। स्वगृह में यज्ञ करनेवाला यष्टा, नगर देश में यज्ञ करनेवाला यजीयान् और विश्व में विश्वहित यज्ञ करनेवाला तो यजिष्ठ तू ही है।

तुझे स्तुति के द्वारा अपनी ओर प्रसिद्ध करता हूं--प्रवृत्त करता हूँ तू मेरी ओर आता है मैं अपने अन्दर तुझे साक्षात करता हूँ नितान्त अनुभव करता हूँ तू भी तो मेरी उपेक्षा नहीं करता है, जैसे मैंने तेरी आत्मभाव से सद्भाव से स्तुति की वस क्या था तूने भी तो मुझ पर अपनी कृपादृष्टि बरसा दी, यही तो मैं चाहता था मेरा तू सम्भजनभागी बन गया ॥२॥

ऋषिः--भार्गवः प्रयोगः (अग्निप्रज्वलनविद् विद्वानों की परम्परा में कुशल प्रयोगकर्ता)

उपासक की स्तुतियां परमात्मा तक पहुंचती हैं—

उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥३॥

(हविष्कृतः) जैसे हवियों—आहूतियां को देनेवाले की हवियां-आहूतियां❀ (वायोः-अनीके) वायु के पास या दल में वायुदल में—बादल में (उप-अस्थिरन्) उपाश्रित हो जाती हैं ठहर जाती हैं पुनः वर्षाजल बरसाती हैं, वैसे ही (जामयः-गिरः-देदिशतीः) एक दूसरे के पीछे बढ बढकर+ निरन्तर अग्र प्रगतिक्रम से एक दूसरे को प्रेरित करती हुई स्तुतियां (त्वा 'उप-अस्थिरन्') तुझ परमात्मा का उपस्थान करती हैं उपासक तक पहुंचने के लिये तुझे या तेरे दर्शन का उपमन्त्रण करती हैं पुनः उपासक के अन्दर तेरे दर्शनामृत रस बरसा देती हैं ।

परमात्मन् ! जैसे समस्त आहूतियां वायुमण्डल में जाकर

❀ लुप्तोपमानोपमावाचकालङ्कारः ।
+ "जाम्यतिरेकनाम" (निरु० ४ । २०)

वर्षा जल बरसाती हैं ऐसे ही उपासक की हावभाव भरी आन्तरिक सत्य स्तुतियां परस्पर सन्ततिक्रम से एक दूसरे के पीछे बढ बढ कर अग्र गति करती हुई एक दूसरे को प्रेरित करती हुई तुझ परमात्मा तक पहुंच तेरे दर्शनामृतरस बरसाने में आकर्षित करने में समर्थ होजाती हैं, कारण कि स्तुतियां अन्तः स्थल से निकली विद्युत्तरङ्गों की भांति पुनः पुनरावृत्त हो सन्तति-क्रम से आध्यात्मिक विद्युत्तरङ्गों में परिणत हो जाती हैं। अतः मैं प्रयोगकर्ता तेरे दर्शनामृत के आकर्षण और पान करने में अवश्य समर्थ हो जाऊंगा ॥३॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः (आध्यात्मिक मिठास का इच्छुक मन वाणी कर्म को मीठा बनाने में तत्पर)

स्तुति करने का समय प्रतिदिन प्रातः सायं, प्रकार ध्यान और नम्र आत्मसमर्पण—

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥४॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (वयम्) हम (दिवे दिवे) दिन दिन—प्रतिदिन— निरन्तर❀ (दोषावस्तः) सायं प्रातः + (धिया) धारणा— ध्यानसमाधि से (नमः-भरन्तः) नमस्कार—गुणकीर्तन तथा नमन—अपने आत्मा का समर्पण करते हुए—अन्यत्र से हटाकर तुझ में रखते हुए (त्वा) तुझ को (उप-आ-इमसि-'उपैमसि') प्राप्त हों।

❀ 'दिवे दिवे अहर्नाम" (निघं० १।८)

+ 'दोषावस्तः-सायं प्रातः' (दयानन्दः, तथा च वेङ्कटमाधवः)

प्रभु परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण करने या उसकी समीपता पाने के लिये प्रातः और सायं ही सुन्दर वेला है, और फिर दोनों वेलाओं में भी प्रति-दिन करने से एवं नम्रीभाव—कृतज्ञता ये दोनों आवश्यक हैं। ध्यान से गुण चिन्तन अनुरागरूप वैराग्य बनता है और नमस्कार से सारी प्रवृत्ति अन्यत्र से हटाकर अपने को कोमल और निर्विषय बना कर अभ्यास साधा जाता है। अग्नि में जैसे लोहे को पडकर अपनी कालिमा और कठोरता छोड देनी होती है तभी वह अग्निरूप अग्नि के समान प्रकाशवान् और तापवान् बन जाता है--नम्र और सरल हो जाता है। इसी प्रकार मानव को अपनी कालिमा व्यसनवासना छोडनी होगी ध्यान से, तथा कठोरता-कृतघ्नता नास्तिकता छोडनी होगी परमात्मा में सर्वभाव से अपने को समर्पण करने रूप नम्रीभाव के अभ्यास से। इस प्रकार मानव के दिन रात प्रातः सायं उसे परमात्मा तक पहुंचा देंगे पुनः मानव जीवन का मिठास प्राप्त कर लेगा ॥४॥

ऋषिः--आजीगर्तः शुनः शेपः (भोगार्थ दौड में शरीर गर्त में गिरा खिन्न भोगविलासी जन)

स्तुति से बोधित करनेवाला एवं जरावस्था से चेताने वाला परमात्मा हमारे प्रत्येक जीवनप्रसंग में आशंसनीय है--

जराबोध तद् विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥५॥

(जराबोध) स्तुति* के द्वारा बोध कराने वाले एवं जरा

---

*"जरति स्तुतिकर्मा" (निघं० ३ । ४१) "जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुति-कर्मणः" (निरु० १० । ८)

जरावस्था से चेताने वाले परमात्मन्! (विशेविशे) प्रत्येक मनोनिवेशप्रसङ्ग में (यज्ञियाय रुद्राय तत्-दृशीकं स्तोमम्) तुझ अध्यात्म यज्ञ के अभीष्ट देव तथा स्तुति द्वारा पूर्ण प्रकाशमान एवं जरावस्थादि द्वारा रुलाने वाले परमात्मा के लिए+ उस दर्शनसाधक स्तुतिवचन को (विविड्ढि) भली प्रकार विष्ट हो—प्राप्त हो—स्वीकार कर।

मेरे प्रिय परमात्मन्! तू जरा अर्थात् अपनी स्तुति के द्वारा बोध कराता है, जब मैं तेरी स्तुति करता हूँ तो तू मुझे बोध देता है—अपना बोध कराता है, स्तुति ऐसी ही है जैसे अग्नि में पड़ी घृताहुति से अग्नि प्रकाशित होती है यजमान और अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करती है एवं स्तुति से तू भी प्रकाशित होता है स्तुतिद्वारा मुझ समर्पणकर्ता का भी बोध कराता है "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः" (योग० १। २९) और संसार नश्वर है संसार के भोगों में रत न रह किन्तु अपने आसङ्ग में अपनी शरण में मोक्ष धाम में आने की प्रेरणा देता है। तथा जरावस्था अर्थात् अत्यन्त जीर्णावस्था के द्वारा बोधित करने वाला चेताने वाला भी तू है, तू देह को जरावस्था में पहुंचा कर उसे जीर्ण करके मानव को सावधान करता है बोध देता है कि "एक दिन यह तेरा देह कुछ भी करने के अयोग्य होकर असह्य दुःख में पड़ जावेगा अन्त में नष्ट हो जावेगा, अरे भोले "बालपन खेल में खोया यौवन दुनियाँ के धन्धों में। जरा से जीर्ण हो कर भी विन ईश जन्म खोता है।।" देह के भरोसे भोगजाल में न फंस, तू नित्य है, अमर है। मैं नित्य अमर परमात्मा तेरा नित्य अमर शरण हूँ मेरी ओर आ मेरे द्वारा अमृत भोग प्राप्त

+ "अग्निरपि रुद्र उच्यते" (निरु० १०। ८)

कर। इस प्रकार बोधन करने वाले परमात्मन्! तब तू मेरे प्रत्येक मनोनिवेशप्रसङ्ग में प्रविष्ट हो उसे यज्ञिय बना। मुझे हितकर मनोनिवेश में लगा, मेरे अध्यात्म यज्ञके सम्पादनार्थ मेरे नम्र स्तुति वचन से मेरी ओर द्रवित होने वाले तुझ परमात्मा के लिए तेरे दर्शन कराने के साधन स्तुतिसमूह को तू विशेषरूप से विष्ट हो उसे स्वीकार कर। बस तभी मुझ जन्मजन्मान्तर की दौड़ लगाते हुए के शरीर गर्त से निकलने का आश्रय बन ॥५॥

ऋषिः—मेधातिथिः (मेधा से गति प्रवृत्ति वाला)

स्तुति प्रार्थनारूप अध्यात्म यज्ञ में परमात्मा अपने ज्ञान आनन्द प्रदान के साथ आता है—

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥ ६ ॥

(त्यं चारुम्—अध्वरं प्रति) उस सुन्दर, हिंसा चाञ्चल्यादि दोषरहित अध्यात्म यज्ञ के प्रति—उसके साधनार्थ (गोपीथाय प्रहूयसे) मेरे अपने स्तुति हाव-भावरूप सोमरस को* पान करने के लिए प्रहुत—आमन्त्रित किया जाता है (अग्ने) हे अग्नि-रूप परमात्मन्! तू (मरुद्भिः—आगाहि) अपने निर्वाहक कर्तृत्व-नियन्तृत्व व्यापकत्व कर्मफलदातृत्व सूचक रश्मियों-प्रवाहों तथा ज्ञानानन्दप्रकाशरश्मियों+ के साथ आ।

मेरे प्रिय परमात्मन्! यह सत्य है जब मैं हावभाव सत्यता भरी सरल नम्रस्तुति तेरी करता हूं तो तू उस स्तुतिरूप मेरे द्वारा अर्पित किये अध्यात्म सोम रस को पान करने के लिए आता है

---

* "गोपीथाय सोमपानाय" (निरु० १० । ३६)।
+ "मरुतो रश्मयः" (तां० १४ । १२ । ६)।

जैसे अन्यत्र भी वेद में सोमपान को कहा है "वायवाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि..." (ऋ० १। २। १) तथा "अस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु" (ऋ० १०। ४३। २) ठीक है परमात्मन्! तेरा भी यह स्वभाव है "देहि मे ददामि ते" (यजु० ३। ५०) मुझे तू दे तो मैं तुझे देता हूं। अतः तू आता है परन्तु तू बुलाने पर आता है आमन्त्रण पर आता है भेंट स्वीकार करने को तू आता है साथ में मरुतों के, मरुत् नाम से कहे जानेवाले अपने स्वरूप के वाहक कर्तृत्व नियन्तृत्व व्यापकत्व कर्मफलदातृत्व बलों तथा आनन्दज्ञानप्रकाशादि गुणरश्मियों के साथ। सूर्य अग्नि और विद्युत् के भी मरुत् हैं रश्मियां*। तब हे परमात्मन्! तेरे भी मरुत् हैं क्योंकि तू भी अग्निरूप है अग्नियों का भी अग्नि है। अग्नि के साथ मरुतों का सम्बन्ध है, कोई भी अग्नि विना मरुतों के नहीं होती। वे मरुत् दो प्रकार के हैं, एक बढ़ावा देने वाले बाहिरी मरुत्, दूसरे अन्दर वर्तमान मरुत् जो स्वरूपात्मक गुणशक्तियां हैं। पार्थिव अग्नि को बढ़ावा देने वाले मरुत हैं वायुवें—वायु के प्रवाह, वायुवेगों से अग्नि बढ़ती है और अन्दर के मरुत हैं ज्वाला-धाराएं या ज्योतिर्मय तरंगें सूर्य और विद्युदग्नि के भी अपने ढंग के ये हैं। एवं परमात्मन्! तुझ अग्नि के बाहिरी मरुत् तुझे बढ़ावा देने वाले तेरे कर्तृत्व नियन्तृत्व व्यापकत्व आदि बल तथा भीतरी मरुत् हैं, आनन्द ज्ञान प्रकाश आदि गुण। परमात्मन्! तू महान् दयालु है कहां यह तुच्छ भेंट स्तुतिवचन और कहाँ

---

* "इन्द्रस्य वै मरुतः" (कौ० ५। ४)
सूर्य और विद्युत् का नाम इन्द्र है।
"मरुतो रश्मयः" (तां० १४। १२। ६)

तेरा अमूल्य अनुपम आनन्दज्ञान वरदान ? अतएव परमात्मन् ! तू देवों में देव महादेव है, वरप्रद महान् है, तेरा वरद शरण मेरे ऊपर बना रहे इसलिए मैं तेरी स्तुति करता हूं मेरी जीवन-यात्रा मेधा के साथ चलती रहे ॥६॥

ऋषिः—आजीगर्तः शुनःशेपः (भोगार्थ दौड़ के शरीर गर्त में पड़ा भोग विलासी जन)।

परमात्मा दोषों से निवृत्त करता हुआ साक्षात् होता है—

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥

(अश्वं न वारवन्तम्) दंशमशक निवारक बलवाले* घोड़े के समान अध्यात्मयाजी के वहनकर्ता उसके विघ्नहर्ता एवं वार—वारण—विघ्नबाधा दोष निवारण बल वाले तथा वार—वरने योग्य ज्ञानानन्द गुण वाले अपि च वार—वरण—अंगीकार करने आश्रय देने का स्वभाव रखने वाले (अध्वराणां सम्राजं तं त्वा-अग्निम्) अध्यात्मादि समस्त यज्ञों के अधिनायक एवं सम्यक् प्रकाशक उस तुझ अग्निरूप परमात्मा की (नमोभिः—वन्दध्यै) नमस्कारों से नम्रतापूर्ण स्तुतियों से वन्दना करते हैं।

अध्यात्म यज्ञ की ओर प्रेरित करने वाले और अध्यात्म यज्ञ में आने वाले विघ्नबाधाओं दोष प्रकोपों को निवृत्त करने वाले तथा संकट से बचाने वाले संग्राम संघर्ष में काम आने वाले घोड़े की भांति वरने योग्य परमात्मन् ! तुझ अध्यात्म यज्ञ के निर्वाहक संसारयात्रा में सफल बनाने वाले की नम्र-स्तुतियों से वन्दना

* "वारवन्तं बालवन्तं बाला दंशमशकनिवारणार्था भवन्ति ।"
(निरु० ३ । ६२)

करता हूँ। परमात्मन्! तू वन्दना करने योग्य है कारण कि मेरे अध्यात्म यज्ञों का प्रकाशक वर्धक तू ही है अन्य नहीं, अन्य नश्वर अनित्य पदार्थ अध्यात्म यज्ञ का प्रकाशक या वर्धक नहीं बन सकता, मैंने अपनी जन्मजन्मान्तर की दौड़ में देख लिया परख लिया वह नश्वर अनित्य पदार्थ साथ छोड़ गए मुझे अमर ऊँचे पद की ओर न ले गए किन्तु गर्त की ओर ही धकेलते चले गए। परमात्मन्! तू ही मेरे दोषों को अपने कृपा-करों से मुझे गर्त में गिरने से उठाकर निर्मल विमल बना कर अपने अमर शरण में अमरत्व का वरदान दे, जिससे पुनः जन्मजन्मान्तर के गर्त में न गिरूं ॥७॥

ऋषिः—भार्गवः प्रयोगः (अग्निसन्दीपन❀ विद्याकुशलों की परम्परा में प्रसिद्ध योक्ताजन)।

औंर्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्निꣳ समुद्रवाससम् ॥८॥

(औंर्वभृगुवत्) उर्वी—पृथिवी में होने वाले औंर्व+ गन्धक पोटास आदि खनिज पदार्थों को भर्जित प्रज्वलित करने वाला—औंर्वभृगु, खनिज पदार्थों से अग्नि को प्रकट करने वाले रासायनिक विद्वान् की भांति जैसे वह भौमपदार्थों से अग्नि को प्रकट कर प्राप्त करता है वैसे। और (अप्नवानवत्) अप्न—कर्म-संघर्षण कर्म-मन्थन को सेवन करने वाले× अथवा अप्न-

---

❀ "भृगुर्भर्जनात्" (निरु०)
+ "उर्वी पृथिवीनाम" (निघं० १।१)
× "अप्नः कर्मनाम" (निघं० २।१) "वन सम्भक्तौ" (भ्वादि०)

वान--दोनों भुजाओं प्रशस्त भुजाओं वाले शिल्पीजन+ विद्युद्विद्याविशारद--जलादि से विद्युद्रूप अग्नि को प्राप्त करने वाले की भांति। जैसे वह विद्युद्रूप कृत्रिम अग्नि को प्राप्त करता है। ऐसे मैं अध्यात्म यज्ञकर्ता उपासक आध्यात्मिक भृगु और आध्यात्मिक अप्नवान बनकर (समुद्रवाससं शुचिम-अग्निम्-आहुवे) अन्तरिक्ष-आकाश-महाकाश-विश्वाकाश❀ है वासस्—वासस्थान जिसका उस विश्वाकाश में सर्वत्र व्याप्त अग्नि को प्रदीप्तरूप में भली भांति प्राप्त करूं।

भौम अग्नि को जैसे अग्निर्विद्या में निष्णात विद्वान् भूमि के अन्दर रहने वाले गन्धकादि पदार्थों से उनके सम्मिश्रण से अग्नि को प्रकट करता है या जैसे संघर्षण से चकमक पत्थर और लोहे के संघर्षण से वंशकाष्ठों के संघर्षण से जलों के प्रपातनरूप संघर्षण से विद्युद्विद्याप्रवीण शिल्पीजन वैद्युत अग्नि को प्रकट करता है इसी प्रकार उपासनापरायण ध्यानी जन भी सर्वत्र आकाश—विश्वाकाश में व्याप्त परमात्मरूप अग्नि को स्तुति वन्दना से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मैं अध्यात्मविद्या-परायण उपासक भी उस विश्वव्यापी चेतन अग्नि परमात्मदेव को प्रकाशमानरूप में प्राप्त कर सकता हूं अभ्यास और वैराग्य के सम्मिश्रण या संघर्षण से, कारण कि यह परम्परा से सिद्ध-प्रयोग है अतः मैं निश्चित परमात्मा को अपने अन्दर प्रकाशित कर सकता हूँ प्राप्त कर सकता हूँ वह अवश्य प्रकाशित एवं प्राप्त हो सकेगा ।।८।।

+ "अप्नवाना बाहुनाम' (निघं० २।४) "अप्नवानौ भुजौ प्रशस्तभुजौ यस्य सोऽप्नवानः, अकारो मत्वर्थीयः ।

❀ "समुद्रोऽन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)

ऋषिः पूर्ववत् ।

परमात्मा का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए—

अग्निमिन्धानो मनसा धियꣳ सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥६॥

(मर्त्यः) मनुष्य (अग्निम्-इन्धानः) परमात्मरूप अग्नि को अपने अन्दर प्रकाशित करने के हेतु (मनसा धियं सचेत) मन से कर्म* परमात्मचिन्तनरूप कर्म अर्थात् मनन करे। तथा (विवस्वभिः-अग्निम्-इन्धे) परिचर्याओं+निदिध्यासनरूप अभ्यासक्रियाओं के द्वारा परमात्माग्नि को आत्मा में प्रदीप्त करे।

परमात्माग्नि के प्रदीप्त करने के लिये सम्मिश्रण या संघर्षण की प्रक्रिया यह है कि जगत् की विविध रचना और उनमें परमात्मा के गुण कर्मों का मनुष्य मनन करे—भिन्न भिन्न जीव शरीरों में हड्डियों के जोड़ों आवश्यकतानुसार उनके मोडने योग्य प्रबन्धों, हाथी जैसे ऊंचे शरीर में मुख के आगे लम्बी सूण्ड नीचे ऊपर से आहार ग्रहण आदि कार्यार्थ, ऊण्ट की भी लम्बी ग्रीवा (गर्दन), भूतल पर जल धाराओं का मार्ग बनाकर बह बहकर समुद्र में गिरने से मनुष्य आदि के निवासार्थ भूप्रदेश प्रदान करने आकाश में ग्रहतारों की गतिविधि का नियन्त्रण आदि द्वारा मनन तथा आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अभ्यास क्रियाओं के अनुष्ठानरूप निदिध्यासन का सेवन करे तो निश्चित ही, परमात्मा का प्रकाश

---

* "धीः कर्मनाम" (निघं० २।१)
+ "विवासति परिचरणकर्मा" (निघं० ३।५)

होता है क्योंकि अध्यात्मश्रुतियों से परमात्मा के गुणों का श्रवण होने के अनन्तर मनन और निदिध्यासन करना हुआ करता है तभी परमात्मा का साक्षात्कार या उसका योग प्राप्त होता है। व्यास मुनि ने योगदर्शन के भाष्य में कहा भी है "आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥" आगम--श्रवण से, अनुमान-मनन से, ध्यानाभ्यासरस--निदिध्यासन से प्रज्ञा को उपयुक्त करता हुआ अभ्यासी उत्तम योग प्राप्त करता है, अध्यात्माग्नि के प्रकाशित करने का यह सिद्ध प्रयोग है ॥९॥

ऋषिः--वत्सः (अध्यात्मवक्ता)।

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥१०॥

(आत्-इत्) अनन्तर ही--निदिध्यासनरूप अभ्यास कर लेने के अनन्तर ही, (प्रत्नय रेतसः) इस जगत् से भी पूर्व वर्तमान समस्त जगत् के रेतः स्वरूप अर्थात् जैसे मानव का वीर्य पदार्थ शरीर का विकास करनेवाला है उस ही भांति जगत् का विकासकारी वीर्यरूप बल स्वरूप परमात्मा की (वासरं ज्योतिः पश्यन्ति) 'वास-र' जगत् को अपने अन्दर वास देनेवाली वसाने वाली ज्योति को ध्यानी जन अपने अन्दर साक्षात् करते हैं (यत्-दिवि परः-इध्यते) वह ज्योति वही है जो प्रकाशस्वरूप द्योतनरूप मोक्षधाम में अत्यन्त दीप्त हो रही है या जगत् से परे मोक्षधाम में दीप्त हो रही है❀।

❀"पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"
(ऋ० १०। ९०। ३)

ध्यानी जन योगाभ्यासरूप निदिध्यासन के अनन्तर जगत् के आदि कारण परमात्मदेव की ज्योति का साक्षात्कार करते हैं। वह साक्षात्कार वही है जो कि मोक्षधाम में अमृत अनन्त-प्रकाश स्वरूप है, जिसे मुक्तात्मा साक्षात् करते हैं। इस लोक में उपासक अपने हृदय में ध्यानसमाधि आदि अध्यात्म उपायों से परमात्मज्योति को साक्षात करता है, वह मोक्ष धाम में मुक्तों को साक्षात् होनेवाली परमात्मज्योति से भिन्न नहीं है, जैसे एक महान् जलाशय से मुख में पान किए जल का स्वाद और सुख उस महान् जलाशय के समग्र जल के जैसा ही होता है भिन्न नहीं, केवल उसके सेवन में काल की इयत्ता, अपेक्षाकृत महत्ता और अविच्छिन्नता का भेद है। लोक में या शरीर में रहते यह साक्षात्कार अल्प है और अल्पकालिक तथा विच्छिन्न होता है। यह ठीक है अनन्त परमात्मा का पूर्णरूप से साक्षात् कोई भी ध्यानी नहीं कर सकता, उसके सामर्थ्य से परे होने के कारण, जीवात्मा अनन्त नहीं हो सकता, अनन्त को पाने के लिये। किन्तु हृदय में ही उसके पाने की शक्ति आत्मा की है, वेदान्त-दर्शन में कहा है "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्" (वेदा० १। ३। २५) यदि उसे पूरा जान ले या प्राप्त करले तो वह अनन्त न रहेगा। किन्तु सान्त हो जावेगा सीमित बन जावेगा, पुनः उससे अन्य की ओर आत्मा की प्रवृत्तिया भटकना हो जावेगी। अतः उसके दर्शन की आकांक्षा तो बनी रहनी ही चाहिए और जीवात्मा भी उसकी स्तुति कीर्तन का कर्ता वक्ता बना ही रहे इसी में परम कल्याण है ॥१०॥

तृतीय दशति

ऋषिः—भार्गवः प्रयोगः (अग्नि प्रकटीकरण कुशल विद्वत् परम्परा में प्रयोगकर्ता विद्वान्)

उपासक द्वारा परमात्मा का नाती और सखा बनने के लिये प्रार्थना—

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

(अध्वराणां वृधन्तं पुरूतमम्) हिंसा कुटिलतादि दोष रहित अहिंसा-सत्यादि आध्यात्मिक व्रतों* के बढ़ाने वाले महत्तम—अत्यन्त महान् अनन्त असंख्येय गुणकर्म वाले तथा बहुत प्रकार से तमनीय कांद्य (वः-अग्निम्) तुझ ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मा को अपने अन्दर धारण करता हूं+ यतः (नप्त्रे सहस्वते-अच्छ) 'नप्तृत्वाय सहस्वत्वाय' मुझे अपने नप्ता होने के लिये तथा सहस्वान् होने के लिये—तेरे सहस् को पाकर सहयोगी साथी सखा होने के लिये अभ्याप्त करूं सम्यक् प्राप्त करूं ।

परमात्मन् ! तू अध्यात्म यज्ञ के अङ्गों अहिंसा आदि सद्व्रतों-सद्भावों शिवसङ्कल्पों का बढाने वाला उनमें ढालने वाला है, तेरी शरण में जाने से ये सद्व्रत बढते सबल होते हैं कारण कि तू सद्व्रतों सद्गुणों का पुञ्ज है भण्डार है तेरे सङ्ग से सद्व्रत बढते हैं; विश्व के अन्दर दृश्यों में अग्निपिण्ड सूर्य

---

* "ध्वरति हिंसाकर्मा" (निघं०) "ध्वृ हूर्च्छने"

\+ अध्याहार, ऋग्वेदेऽस्मात् पूर्वमन्त्रे "हुवे" ।

महान् है परन्तु सूर्य से भी महान् परमात्मन्! तू ही है, सूर्य का प्रखर ताप और प्रकाश अद्वितीय है परन्तु जगत् में तुम्ह चेतन परमात्मदेव के सम्मुख नहीं किन्तु सूर्य के प्रताप और प्रकाश का निमित्त या प्रदाता परमात्मन्! तू ही है। अदृश्य जडों में आकाश महान् है पर तू तो आकाश से भी महान् है आकाश का आधार है* प्रकृति पुरु है सूक्ष्म-स्थूल पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश अहङ्कार महत्तत्त्व भेदों वा, जीव पुरुतर है मनुष्य गौ घोड़ा भैंस हाथी ऊएट सिंह रीछ हरिण तोता कोयल सर्प आदि असंख्य भेदों वाला, परमात्मन्! तू पुरुतम है कारण कि उत्पन्न होने वाले पत्ते फूल फलों वृक्ष लता तृण, सुवर्ण आदि धातुओं का उत्पत्तिकर्ता चित्रकार, मनुष्य हाथी ऊएट आदि शरीर की रचना का कलाकार तथा पुरु बहुत प्रकार से तमनीय आकांक्ष्य माता पिता भ्राता सखा गुरु राजा कर्मफल-दाता मोक्षप्रदाता ज्ञानदाता कृपालु आदि नामों से चाहने योग्य है। जब हम सद्व्रतों का आचरण करते हैं तो तू हमें अपने नप्तृ सम्बन्ध का—स्नेह लाभ और सहस्वत्ता साहसप्राप्ति—सखापन के पराक्रम को प्रदान करता है। 'नप्ता—न पातयिता' पितामह को वंश से न गिराने वाला, मरते समय नप्ता—पौत्र हो तो पितामह शान्ति से प्राण छोडता है कि मेरा वंश चलता रहेगा, तथा जीवनकाल में वानप्रस्थ लेते समय शान्ति से वन में रहेगा कि मेरा वंश चलता रहेगा। पुत्र तो परमात्मा के सब हैं "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" (ऋ० १०।१३।१) परन्तु नप्ता – पौत्र उसे न गिराने वाले हैं अध्वरों-अध्यात्मयज्ञों-अहिंसादि सद्व्रतों उपासनाङ्गों के सेवन करने वाले जो संसार

* "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ० १।५२।१२)

में उसे गिरने नहीं देते परम्परा से परमात्मा की प्रसिद्धि करते हैं। नप्ता—पौत्र के प्रति पितामह का अति स्नेह होता है। वृद्ध असमर्थ होता हुआ भी पौत्र को उठाए उठाए फिरता है। सहस्—आन्तरिक बल को कहते हैं "बलमसि बलं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मायि धेहि" (यजु० १९। ९) परमात्मन्! सृष्टि की उत्पत्ति, धारण, नियमन, जीवों के कर्मों का फल प्रदान करना नैजिक बलरूप साहस तुझ में ही है एवं हम भी तुझ से अपने कार्योंमें साहस प्राप्त करें। हमारे व्रताचरण उपासनाङ्गों से तू अपने स्नेह और सखापन के सहयोग का प्रसाद देगा ऐसे तुझ हितैषी को हम निरन्तर अध्यात्म यज्ञों उपासनाङ्गों के द्वारा अपना कमनीय बनाए रखें ॥१॥

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः (वेदाचार्य का शिष्य परमात्मा के अर्चन ज्ञान बल को धारण करने वाला)

परमात्मा अपने ज्ञानमय तेज से उपासक के पाप को नष्ट कर गुणैश्वर्य प्रदान करता है—

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद् विश्वं न्यत्रिणम्।

अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥२॥

(अग्निः-विश्वम्-अत्रिणम्) तेजः स्वरूप परमात्मा उपासक को सब प्रकार के भक्षणकर्ता दोष—दोषी को[1] (तिग्मेन शोचिषा नियंसत्) तीक्ष्ण तेज से—तीव्रतर ज्ञानमय प्रकाश से नियन्त्रित करता है—निगृहीत करता है—पराभूत करता है[2]

१ "पाप्मानोऽत्रिणः" (षं० ३। १)
२ "अग्निर्वै मृत्युः" (शत० १४। ६। २। १०)

(अग्निः-नः-रयिं वंसते) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमारे लिये अध्यात्म धन—अमृतत्व को प्रदान करता है।[३]

परमात्मा जब उपासक के अन्दर साक्षात् हो जाता है तो अपने ज्ञानमय तेज से उसके आन्तरिक जीवन के समस्त भक्षक तत्त्वों-रोगों-दुर्वासनाओं और पापों तथा विरोधियों को नियन्त्रित और भस्मीभूत करके उसे अध्यात्म सम्पत्तिशाली बना देता है। जैसे आत्मा की चेतना से शरीर में विकार रोगादि नहीं आपाता, आत्मा शरीर की नीरोगता का ध्यान रखता है आए हुए रोग को प्रबलता से हटाता है तथा आत्मा के रहते हुए शरीर सडता नहीं, आत्मा के निकल जाने से शरीर सड जाता है मुर्दा हो जाता है। अपितु आत्माके शरीर में रहते हुए शरीरमें स्वास्थ्य सौष्ठव आदि सम्पत्ति का आधान करता है एवं परमात्मा जो आत्मा का भी आत्मा है आत्मा के अन्दर जब स्थान ले लेता है तो वह भी शरीररूप आत्मा के अन्दर से अपनी चेतना द्वारा उसके पाप मल दुर्वासना को भगाकर निज अमृत सम्पत्ति को प्रदान करता है कारण कि आत्मा को परमात्माका शरीर कहा गया है "आत्मा यस्य शरीरम्" (शत० १४।६।७।३२) "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणा-भिनिष्पद्यते" (छान्दो० ८।१२।३) पर ज्योति परमात्मा को पाकर आत्मा अपने रूप में आता है सुवर्ण की भांति निर्दोष होकर स्वरूप में चमक जाता है ॥८॥

ऋषिः—वामदेवः (ज्ञान गति प्राप्ति शील श्रेष्ठ महानुभाव)

---

३ "अग्निरमृतम्" (शत० १०।२।६।२०)
"ज्योतिरमृतम्" (शत० १४।४।१।३२)

परमात्मा अपने चाहने वाले को प्राप्त होता है—

अग्ने मृड महाँ अस्यय आ देवयुं जनम्।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥३॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू (मृड) मुझे सुखी कर (महान्-अयः-असि) महान् प्राप्तिशील हो (देवयुं जनम्- आ-इयेथ) तुझ अपने इष्टदेव को चाहनेवाले जन को प्राप्त हो। अतः (आसदं बर्हिः 'आ-इयेथ) भलीभांति बैठने योग्य हृदयावकाश में या हृदयासन पर समन्तरूप से प्राप्त हो या विराजमान हो।

संसार में सुख देनेवाले तो हैं माता पिता आदि सम्बन्धी, परन्तु ये सदा सुख नहीं पहुंचा पाते वस्तुतः सच्चा सुख देनेवाले भी ये नहीं हैं जैसा भी सुख इनसे मिलता है उससे भी वञ्चित होना पडता है इनके वियोगवश या इनके रूठजाने पर। समान-वयस्क सखा भी सदा सुख नहीं पहुंचा सकते या साथ नहीं दे पाते, घनी आपत्ति में तो साथ छोड ही देते हैं "बनी बनी के सब साथी हैं बिगड़ी में कोई नहीं।" जड वस्तुओं से सुख मिलता है परन्तु क्षणिक या अस्थिर, फिर उनके भी वियुक्त हो जाने से टूट जाने से फूट जाने से दुःख ही मिलता है। "भोगे रोग भयं वियोगे शोकभयम्" भोग में रोग भय और वियोग में शोक भय भी चलता ही है। परन्तु परमात्मन्! तू सुख शरण है नितान्त सुख शरण है। प्राप्त होने का शील भी तेरा महान् है। अन्य वस्तुओं की प्राप्ति बाहिरी है और एक देशी हैं सर्वथा प्राप्ति नहीं, नेत्रहीन को रूपवाली वस्तु प्राप्त नहीं और नेत्रवान् को भी प्राप्ति एक देशी ही है। परन्तु तेरी प्राप्ति भीतरी है आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली है और सर्वांगी है आत्मा में अनुभूत होने से मन तथा इन्द्रियों में भी प्राप्त है,

प्रिय देव ! तुझे जो चाहता है तू उसे चाहता है उस चाहनेवाले को तू अवश्य प्राप्त होता है और प्राप्त होकर रहता है उसके हृदय में अन्तःकरण में विराजमान हो जाता है उसे सच्चे सुख से भरपूर कर देता है। चाहने पर तेरे यहां सङ्कोच या न आने का बहाना नहीं, कारण कि तू किसी भौतिक वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है, तू तो केवल चाहना को देखता है कि बस कोई तुझे चाहे, धन्य हो देव ! तू मेरा देव बना रह ॥३॥

ऋषिः—वसिष्ठः (परमात्मा में अतिशय से बसने वाला उपासक)

परमात्मा अपने उपासक की पाप और पापी से रक्षा करता है—

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रतिस्म देव रीषतः ।

तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! तू (नः-अंहसः-रक्ष) हमें पाप से बचा (देव-अजरः-तपिष्ठैः-रीषतः प्रतिदह स्म) हे देव-सुखप्रद देव ! तू अजर-जरारहित होता हुआ अपने सन्तापक साधनों से पीडित करनेवाले काम क्रोधादि को भस्मीभूत कर दे।

परमात्मदेव ! जब तू हृदय में विराजमान हो जाता है तो आगन्तुक पाप सन्ताप अज्ञानान्धकार से तो बचाता ही है साथ में अन्दर वर्तमान जमे बैठे पीडा देने वाले दुर्व्यसन काम क्रोधादि को भी अहनी तापक शक्तियों से भस्मीभूत-नष्ट भ्रष्ट कर देता है ऐसा तू मेरा इष्टदेव अजर है जरारहित है अतएव सदा का साथी है, अन्य जन मेरा हित चाहनेवाले मेरा साथ

छोड गए मेरे ऊपर से उठ गए कारण कि उनके साथ जरा का सम्बन्ध था, जरा ने उन्हें जीर्ण कर दिया शक्तिहीन कर दिया अन्त में प्रलीन कर दिया, परन्तु तू ही एक सहारा है जो कभी अलग न होने वाला है और तेरी तापक शक्तियों को कोई दबा नहीं सकता है ॥४॥

ऋषिः—भरद्वाजः (परमात्मा के अर्चन ज्ञान बल को धारण करनेवाला)

परमात्मा के गुणरूप घोडों द्वारा उपासक के मनोरूप रथ को मोक्ष की ओर ले जाना—

अग्ने युंक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥५॥

(अग्ने देव) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मदेव ! (ये तव साधवः-आशवः अश्वासः) जो ये तेरे साधु-मेरा कल्याण साधक घोड़े या संसार में व्यापनेवाले कर्तृत्व नियन्तृत्वादि गुणरूप घोड़े या घोड़ों की भांति मेरे मनरूप रथ को मोक्ष धाम की ओर ठीक वहन करें—मोक्ष धाम की यात्रा करावें तुझ तक पहुंचावें❀ इसके लिए (युङ्क्ष्व हि) उन्हें अवश्य जोड़। वे (अरं वहन्तु) पूर्ण रूप से वहन करें।

मानव की यात्रा के दो क्षेत्र हैं, एक संसार दूसरा मोक्षधाम। संसार क्षेत्र की यात्रा मन रूप रथ में इन्द्रिय घोड़ों के जुड़ने से करता है, ये इन्द्रियां घोडे इसके मन रथ को जहां तहां विषयों में ले जाते भटकाते और अति संकट में डाल देते हैं+।

❀ अत्र लुप्तोपमेयोपमानोपमावाचकालङ्कारः ।

+ "इन्द्रियाणि हयानाहुः" (कठो० १।३।४)

परन्तु परमात्मन् ! मैं चाहता हूँ, मोक्षधाम की यात्रा, उस ओर चलने के लिए तेरे जो कर्तृत्व नियन्तृत्व व्यापकत्व रूप घोड़े मेरे कल्याण करने वाले संसार में व्याप्त हैं विद्यमान हैं उन्हें मेरे मन रूप रथ में जोड़ दे--मन में उन कर्तृत्वादि गुणों का निरन्तर मनन होता रहे। वे मेरे मनरूप रथ को तेरी ओर तेरे ज्ञानप्रकाश आनन्द की प्राप्ति के लिए ले जायें ॥५॥

ऋषिः—वसिष्ठः (परमात्मा में अतिशय से बसने वाला उपासक।

परमात्मा हमारा राजा है अपने नियन्तृत्व आदि गुणरूप वीरों से हमारी पालना करता है—

नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।
सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥

(नक्ष्य विश्पते-आहुत-अग्ने) हे व्याप्ति में समर्थ तथा प्राप्तव्य—शरण्य* एवं हम प्रजाओं के पालक ! हमारे द्वारा अध्यात्म यज्ञ के सदन हृदयप्रदेश में आमन्त्रित किये हुए अग्निरूप में प्रज्वलित किये हुए परमात्मदेव ! (त्वा द्युमन्तं सुवीरं वयं निधीमहि) उस तुझ ज्योतिष्मान् अपने नियन्तृत्वादि गुणरूप कल्याणकारी वीरोंवाले तुझ इष्टदेव को अपने अन्दर धारण करें।

"इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥
(मनु० २ । ८८)

* "नक्षति व्याप्तिकर्मा" (निघं० २ । १६)
"नक्षति गतिकर्मा' (निघं० २ । १४)

परमात्मा सर्वत्र व्यापक और प्रजापालक है। हम उसकी प्रजाएं हैं, वह हमारा राजा है, राजा भी गुणों से प्रकाशमान और सुवीर है। जो गुणों से प्रकाशमान न हो वह राजा होने का अधिकारी नहीं, संसार में ऐसे राजा बहुत मिलते हैं जो अवगुणों से पूर्ण हैं। साथ ही परमात्मन्! तू सुवीर भी है कल्याणकारी वीरों वाला तू ही है, अकल्याणकारी वीरों वाले प्रजाजनों को ताप सन्ताप पहुँचाने वाले संसार में अनेक राजा मिलते हैं। अपना बल अन्यों के अपघात में व्यतीत करते हैं वे दस्यु राजे बहुत हैं, परन्तु परमात्मा तो उत्कर्ष का निमित्त बनता है उसे धारण करने से हम भी उसके गुणशक्तियों के नियन्त्रण में सुप्रजा होकर कल्याणभागी बन सकते हैं ॥६॥

ऋषिः—विरूपः (परमात्मा को विविधरूपित निरूपित करने वाला महानुभाव)।

परमात्मा ही आध्यात्मिक जन या उपासक की दृष्टि में लोकत्रय का अग्नि, विद्युत् और सूर्य है—

अग्निमूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपाँ रेताँसि जिन्वति ॥७॥

(अयम्—अग्निः—मूर्धा) यह परमात्माग्नि लोकत्रय अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की अग्नियों में मूर्धारूप है—उन तीनों के ऊपर है शासक है उनका भी प्रकाशक—उनमें प्रकाश प्रदान करता है एक प्रकार से (अयं दिवः ककुत्) द्युलोक का ककुत्—उच्चभाग जो सूर्य है वह परमात्मा ही सूर्य है (पृथिव्याः पतिः) पृथिवी का पति यह जो पृथिवी का अग्नि है वह यही परमात्मा पति है। (अपां रेतांसि जिन्वति)

और अन्तरिक्ष* लोक के जलों+ को प्राप्त हो कर उन्हें प्रेरित कर रहा है स्वायत करता है वह विद्युद्रूप अग्नि भी यही परमात्मा है।

संसार में वर्तमान समस्त प्रकाश और प्रताप गुणों का आधार अग्नि तत्त्व है। वह अग्नि तीनों लोकों में वर्तमान है, पृथिवी में अग्नि नाम से, अन्तरिक्ष में विद्युत् नाम से और द्युलोक में सूर्यनाम से है। परन्तु इन सूर्य आदि सब अग्नियों में उसी का प्रकाश है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओम् खं ब्रह्म" (यजु० ४० । १७) सूर्य में जो पूर्ण पुरुष प्रकाशस्वरूप प्रकाशप्रद है वह मैं ओ३म् व्यापक ब्रह्म हूं तथा "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक० २ । १०) उसी प्रकाशमान के पीछे सब प्रकाशमान होता है, उसकी ज्योति से सब कुछ ज्योतिष्मान् होता है। परमात्मा ही द्युलोक का आधार सूर्यरूप में, पृथिवी लोक का पति अग्निरूप में और अन्तरिक्ष लोक का नायक विद्युद् रूप में है। अतएव अध्यात्म योग में परमात्मा को ही सूर्य, विद्युत् और अग्नि जानकर मानकर उसकी उपासना करते हैं ॥७॥

ऋषिः—आजीगर्तः शुनः शेपः (भोगों की दौड़ में भोगस्थान-शरीर गर्त में गिरा हुआ निज उद्धारार्थ अध्यात्मोपदेशोन्मुख जन)।

परमात्मा उपासक की इन्द्रियों में संयम से रहने को आन्तरिक भाव से उपदेश देता रहता है—

---

* "आपः-अन्तरिक्षनाम" (निघं० १ । ३)

+ "रेतः-उदकनाम" (निघं १ । १२)

इमम् षु त्वमस्माकꣳ सनिं गायत्रं नव्याँसम् ।
अग्ने देवेषु प्रवोचः ॥ ८ ॥

(अग्ने त्वम्) हे अग्ने ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! तू (इमम्-उ गायत्रं सु सनिं नव्यांसम्) इस ही गायत्र अर्थात् गायत्री-वाणी से सम्बन्ध रखने वाले वाणीविषयक सुन्दर सम्भजन करने योग्य❀ पुनः पुनः नवतर नवतम आस्तिक भावपूर्ण-अध्यात्म प्रवचन को (अस्माकं देवेषु प्रवोचः) हमारी इन्द्रियों में प्रकृष्टरूप से परिभाषित कर+ प्रचारित करा, प्रसारित करा।

इन्द्रियां संसार के विषयव्यसनों में, कुमार्ग में गति करती रहती हैं अपितु पुनः प्रवृत्त और पतित होकर आत्मा के अधः पतन का कारण बन जाती हैं। परन्तु परमात्मा का उपासक जब परमात्मा की समीपता पाता है तो उसे ऐसा लगता है मानो वह परमात्मा इसकी इन्द्रियों को विषयव्यसनों एवं कुमार्ग में पड़ने से बचाने को और सन्मार्ग में चलने और अपनी ओर प्रवृत्ति करने का आदेश उपदेश देता रहता है। उपासक का भी कर्त्तव्य हो जाता है जैसा आस्तिकभावपूर्ण स्तुति परमात्मा की अपने आत्मा के अन्दर बिठावे वैसे अपनी इन्द्रियों में भी चरितार्थ करे। स्तुति के विरुद्ध आचरण न करे अपितु वैसे गुण वाली बनावे। इन्द्रियों में प्रधान इन्द्रियां श्रोत्र और नेत्र हैं उन्हें परमात्मा की ओर लगाने से समस्त इन्द्रियां परमात्मा की ओर लग जाती हैं। वेद में परमात्मा की ओर लगाने के लिए कहा भी है—"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।" (ऋ० १।८९।८) कानों से भद्र—भजनीय

❀ "वन षण सम्भक्तौ" (भ्वादि०)
+ "वच परिभाषणे" (चुरादि०)

परमात्मा को सुनें—उसका श्रवण करें आंखों से भद्र-भजनीय परमात्मा को देखें—उसकी झांकी वस्तु वस्तु में देखें ॥८॥

ऋषिः—गोपवनः (गो-पवनः, गौओं-इन्द्रियों का पवन—पवित्र करने वाला जन)।

अपनी इन्द्रियों को पवित्र करने के हेतु परमात्मा से बल मांगना—

तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ६ ॥

(अङ्गिरः पावक-अग्ने) हे अङ्गों को प्रेरणा देने वाले तथा पवित्रकारक प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (तं त्वा) उस तुझ अग्निरूप को (गोपवनः) अपनी इन्द्रियों को पवित्र करने वाला (गिरा जनिष्ठत्) स्तुतिरूप वाणी से अपने अन्दर तुझे प्रकट करता हूँ; अतः (सः-त्वं हवं श्रुधि) वह तू हमारे आह्वान को सुन।

परमात्मा पावक है पवित्र बनाने वाला है, वह स्तुति से वरता है अपने उपासक की भीतरी अभ्यर्थना को सुनता है ऐसे देव को अपने अन्दर ध्यानाभ्यास से प्रकाशित करना ही चाहिये। अन्तर्यामी परमात्मा की जो अन्तस्तल से हृदय से उत्सुकता के साथ निरन्तर स्तुति करता रहता है। उसकी इन्द्रियों में निश्चय पवित्रता, संयमशक्ति, उत्कृष्टता का संचार होता है। वह संयमी और निर्दोष तथा गुणवान् होकर परमात्मा का प्रिय कृपापात्र बन जाता है जैसे भौतिक अग्नि के संसर्ग से जल, दूध आदि भोज्य तथा चांदी, सोना आदि धातुएं शुद्ध तथा चमकीली हो जाती हैं ऐसे ही परमात्मा के संसर्ग से इन्द्रियां शुद्ध और दिव्य गुण वाली हो जाती हैं ॥६॥

ऋषिः—वामदेवः (ज्ञान गति प्राप्ति करने वाला विद्वान्)

परमात्मा उपासक की स्तुति भेंट को स्वीकार करता है और गुण रत्न प्रदान करता है—

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद् रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥

(वाजपतिः कवि–अग्निः) अध्यात्म भोजन तथा उसका ग्रहण बल* एवं सुख का स्वामी सर्वज्ञ प्रकाशस्वरूप परमात्मा ! (दाशुषे रत्नानि दधत्) उस अपने हाव-भावों के समर्पण करने वाले के लिए रमणीय अङ्गों तेज और गुणों तथा अध्यात्म भोगों को धारण कराने के हेतु (हव्यानि पर्यक्रमीत्) स्तुतिकर्ता उपासक की हाव-भाव पूर्ण स्तुतियों को परिगृहीत करता है—स्वीकार करता है।

जैसे-जैसे उपासक जन परमात्मा की सच्ची स्तुति प्रार्थना उपासना करता है वैसे-वैसे वह उसकी स्तुति प्रार्थना उपासनाओं को साथ-साथ स्वीकार करता जाता है, ऐसा कभी सम्भव नहीं कि वह स्वीकार न करे, क्योंकि वह अन्तर्यामी है अन्दर की बात जानता है। समर्पणकर्ता की विविध स्तुतियों—वाणी, कान, आंख, मन, आत्मा द्वारा होने वाली स्तुतियों को स्वीकार करने में परमात्मा का अपना कोई प्रयोजन नहीं है, केवल समर्पणकर्ता स्तुतिकर्ता के हितार्थ स्वीकार करता है अतः वह अपने सच्चे उपासक को कायिक वाचिक मानसिक और आत्मिक रमणीय तत्त्वों–स्वास्थ्य, सौष्ठव, मधुर वाणी, वाणी की प्रभाववत्ता, बुद्धिविकास, मननशीलता, धैर्य, शान्ति और

* "वाजोऽन्ननाम" (निघं० २ । ७)
"वाजो बलम्", (निघं० २ । ९)

आनन्द को प्रदान करता है उसे अपनी हाव-भाव पूर्ण स्तुति अवश्य समर्पित करनी चाहिए वह तो देव है देने वाला है शत-गुणित, सहस्रगुणित दान का वरदान देता है। "देहि मे ददामि ते" (यजु० ३। ५०) तू दे तो मैं तुझे अवश्य दूंगा को पूर्ण चरितार्थ करता है ॥१०॥

ऋषिः—प्रस्कण्वः (प्रकृष्ट मेधावी)।

देवता—सूर्याग्निः—सौराग्नि (सूर्य सर्वप्रकाशक सर्वप्रेरक परमात्मा)।

परमात्मा के रचे पदार्थ उसकी सत्ता का सन्देश देते रहते हैं—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥

(त्यं जातवेदसं सूर्यं देवम्) उस जात अर्थात् उत्पन्न मात्र की विद्यमानता के आधार एवं उत्पादक प्रकाशक प्रेरक दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को (विश्वाय दृशे) विश्व के दृष्ट करने बोध कराने को (केतवः) पृथिवी, पृथिवीस्थ सरित् सागर गिरि पर्वतादि, चन्द्रादि ग्रह तारे प्रज्ञान* बन कर (उद्वहन्ति) उद्-घोषित कर रहे हैं प्रद्योतित कर रहे हैं।

परमात्मा समस्त जगत् के ग्रह तारों पृथिवी आदि पिण्डों और उन पर उत्पन्न होने वाले समस्त जड़ जङ्गम पदार्थों का उत्पादक प्रकाशक और आधार है वे ये सब ग्रह तारे पृथिवी आदि पिण्ड और वहां वहां वर्तमान सब पदार्थ मानव को दर्शाने के लिए उस परमात्मा का उद्घोष कर रहे हैं, मननशील जन को विशेष रूप से प्रवृत्त कर रहे हैं। उसकी विद्यमानता

* "केतुः प्रज्ञाननाम" (निघ० ३। ९)।

प्रकाशकता का सन्देश दे रहे हैं जैसे किरणें अपने आधारभूत प्रकाशक सूर्य का सन्देश दे रही होती हैं। वे पदार्थ चाहे तुच्छ पत्ते फूल फल हों, वृक्ष तरु तृण हों, वन गिरि पर्वत हों, पशु पक्षी सरीसृप हों या नद सरित् सागर हों या महान् नक्षत्र ग्रह तारे हों सभी परमात्मा का उद्घोष कर रहे होते हैं ॥११॥

ऋषिः—मेधातिथिः (मेधा से अतन प्रवेश करने वाले)।

श्रेष्ठ कर्म में सर्वज्ञ, सत्य नियमों वाले तथा रोगों को नष्ट करने वाले परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये—

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥

(अध्वरे) हिंसा कुटिलता आदि दोषों से रहित अध्यात्म-यज्ञ में (कविं सत्यधर्माणम्–अमीवचातनम्–अग्निं देवम्—उप-स्तुहि) क्रान्तदर्शी–सर्वज्ञ, अविनश्वर, कर्तृत्व नियन्तृत्व कर्म-फलदातृत्व नियमों के प्रसारक तथा सदा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले एवं प्रकाश ज्ञानानन्द स्वरूप वाले और उपासक के रोगों* रोग कारणों के नाशक, अग्रणायक परमात्मदेव की उपगत–समीपी–आन्तरिक भावनायुक्त स्तुति कर।

परमात्मा के कर्तृत्व नियन्तृत्व कर्मफलदातृत्व नियम अटल हैं तथा वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला और प्रकाश ज्ञानानन्द स्वरूप वाला है। शरीर, इन्द्रियों मन और आत्मा के अपकार करने वाले रोग, दोष, वासना और अशान्ति को मिटाने वाले अन्तःसाक्षी अन्तर्यामी अन्तर्व्यापी परमात्मा की शरण आन्तरिक भाव से स्तुति के द्वारा लेनी चाहिए। वह

* "अम रोगे" (चुरादि०)
"अमीवा रोगकारकः कृमिः" (निरु० ६। १२)।

सचमुच उपासक के शारीरिक रोगों, इन्द्रियों के दोषों, मन की वासना और आत्मा की अशान्ति को मिटाने में समर्थ है क्योंकि उसका अध्यात्म तेज आत्मा में भी है आत्मा जैसे-जैसे अपने शरीर आदि के रोगादि दूरीकरण में यत्न करता है आत्मा की विद्यमानता से दोष आदि का निराकरण होता है। मृत देह तो दिनों दिन दूषित हो जाता है एवं परमात्मा तो आत्मा का भी आत्मा है अपना आत्मा तो उसका शरीर है जब इस शरीररूप आत्मा को उसके प्रति समर्पित कर दिया तो वह अपने शरीर-रूप आत्मा को निर्दोष रखेगा ही। भौतिक साधनों से सर्वथा निर्दोष नहीं बन सकता। अतः पात्र बन कर उसकी शरण लेनी चाहिये ॥१२॥

ऋषिः—सिन्धुद्वीप॰ आम्बरीषः+ त्रित× आप्त्यो वा (स्यन्दमान प्रवाह—शरीरप्रवाह और स्यन्दमान संसारप्रवाह रूप दोनों प्रवाहों में स्थान जिसका है ऐसा अम्बर—हृदयाकाश की ईषा अर्थात् गति प्रवृत्ति में समर्थ तथा लक्ष्यप्राप्ति पर आपः—व्यापक परमात्मज्योतियों में विराजमान स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के बन्धनों से ऊपर स्वात्म स्वरूप में आया हुआ शरीरी जीवन्मुक्त जीवात्मा १।

देवता—देव्यः (अग्निरूप परमात्मा की ज्योतियाँ)।

परमात्मा की ज्ञानमय ज्योतियां हमारे अभ्युदय और निःश्रेयस के सुख को बरसाती हैं—

॰ सिन्धुसम्बन्धी द्वीपो यस्य स सिन्धुद्वीपः, मध्यपदलोपी समासः।

+ अम्बरे—आकाशे—हृदयाकाशे गति तत्र साधुः स आम्बरीषः।

× अप्सु भव आप्त्य (त्यश्छान्दसः) स च एकतो द्वितस्त्रितः।

१ "परं ज्योतिरुपसद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छांदो० ८।१२।३)

शन्नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

(देवीः) परमात्मा की ज्ञानज्योतियां (नः) हमारी (अभिष्टये) अभिकामना-आभ्युदयिक सुखसम्पत्ति के लिए (शं भवन्तु) कल्याणकारी होवें। तथा (नः पीतये शम्) हमारी आनन्दप्राप्ति-तृप्ति निःश्रेयस-मुक्ति प्राप्ति के लिये कल्याणकारी होवें (शंयोः-नः-अभिस्रवन्तु) वे हमारे उभयक्षेत्र में सुख शान्ति को रिसावें-बहावें-बरसावें।

परमात्मा की ज्ञान ज्योतियां सर्वत्र फैली हुई हैं उसके जनाने वाली वे ज्योतियां हैं उसकी सृष्टि-कर्तृता नियन्तृता व्यापकता कर्मफल-प्रदातृता आदि शक्तियां हमारी अभिकामनाओं के लिये अर्थात् गन्धसुख रससुख रूपसुख स्पर्शसुख शब्दसुख के लिए प्रत्येक गन्धादि भोग्यवस्तु में परमात्मा की महिमा कला, विभूति, झांकी, सत्ता भासित होती रहे, तभी वह गन्धादि का सुख सच्चा सुख हो सकेगा अन्यथा इन्द्रिय विकारमात्र परिणामतः दुःख ही सिद्ध होगा तथा आत्मा के अन्दर साक्षात् हुई उसकी ज्योतियां ज्ञानानन्द धाराएं बन कर तृप्ति के लिए एवं मुक्ति के लिए सिद्ध हों। इस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस को प्रदान करने वाली, सच्चे सुख, सच्ची शान्ति को बहाने बरसाने वाली उसकी ज्योतियां हैं ॥ १३ ॥

ऋषिः-उशनाः(कल्याण की कामना करनेवाला महानुभाव)।

महान् मोक्षधाम में परमात्मा अध्यात्म यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले जन के अन्तरात्मा को तृप्त करता है—

कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥

सचमुच उपासक के शारीरिक रोगों, इन्द्रियों के दोषों, मन की वासना और आत्मा की अशान्ति को मिटाने में समर्थ है क्योंकि उसका अध्यात्म तेज आत्मा में भी है आत्मा जैसे-जैसे अपने शरीर आदि के रोगादि दूरीकरण में यत्न करता है आत्मा की विद्यमानता से दोष आदि का निराकरण होता है। मृत देह तो दिनों दिन दूषित हो जाता है एवं परमात्मा तो आत्मा का भी आत्मा है अपना आत्मा तो उसका शरीर है जब इस शरीररूप आत्मा को उसके प्रति समर्पित कर दिया तो वह अपने शरीर-रूप आत्मा को निर्दोष रखेगा ही। भौतिक साधनों से सर्वथा निर्दोष नहीं बन सकता। अतः पात्र बन कर उसकी शरण लेनी चाहिये ॥१२॥

ऋषिः—सिन्धुद्वीप❀ आम्बरीषः+ त्रित× आप्त्यो वा (स्यन्दमान प्रवाह—शरीरप्रवाह और स्यन्दमान संसारप्रवाह रूप दोनों प्रवाहों में स्थान जिसका है ऐसा अम्बर—हृदयाकाश की ईषा अर्थात् गति प्रवृत्ति में समर्थ तथा लक्ष्यप्राप्ति पर आपः—व्यापक परमात्मज्योतियों में विराजमान स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के बन्धनों से ऊपर स्वात्म स्वरूप में आया हुआ शरीरी जीवन्मुक्त जीवात्मा १।

देवता—देव्यः (अग्निरूप परमात्मा की ज्योतियाँ)।

परमात्मा की ज्ञानमय ज्योतियां हमारे अभ्युदय और निःश्रेयस के सुख को बरसाती हैं—

❀ सिन्धुसम्बन्धी द्वीपो यस्य स सिन्धुद्वीपः, मध्यपदलोपी समासः।

+ अम्बरे—आकाशे—हृदयाकाशे गति तत्र साधुः स आम्बरीषः।

× अप्सु भव आप्त्य (त्यश्छान्दसः) स च एकतो द्वितस्त्रितः।

१ "परं ज्योतिरुपसद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छांदो० ८।१२।३)

शन्नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

(देवीः) परमात्मा की ज्ञानज्योतियां (नः) हमारी (अभिष्टये) अभिकामना-आभ्युदयिक सुखसम्पत्ति के लिए (शं भवन्तु) कल्याणकारी होवें । तथा (नः पीतये शम्) हमारी आनन्दप्राप्ति-तृप्ति निःश्रेयस-मुक्ति प्राप्ति के लिये कल्याण-कारी होवें (शंयोः-नः-अभिस्रवन्तु) वे हमारे उभयक्षेत्र में सुख शान्ति को रिसावें-बहावें-बरसावें ।

परमात्मा की ज्ञान ज्योतियां सर्वत्र फैली हुई हैं उसके जनाने वाली वे ज्योतियां हैं उसकी सृष्टि-कर्तृता नियन्तृता व्यापकता कर्मफल-प्रदातृता आदि शक्तियां हमारी अभिकाम-नाओं के लिये अर्थात् गन्धसुख रससुख रूपसुख स्पर्शसुख शब्द-सुख के लिए प्रत्येक गन्धादि भोग्यवस्तु में परमात्मा की महिमा कला, विभूति, झांकी, सत्ता भासित होती रहे, तभी वह गन्धादि का सुख सच्चा सुख हो सकेगा अन्यथा इन्द्रिय विकारमात्र परिणामतः दुःख ही सिद्ध होगा तथा आत्मा के अन्दर साक्षात् हुई उसकी ज्योतियां ज्ञानानन्द धाराएं बन कर तृप्ति के लिए एवं मुक्ति के लिए सिद्ध हों । इस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयस को प्रदान करने वाली, सच्चे सुख, सच्ची शान्ति को बहाने बरसाने वाली उसकी ज्योतियां हैं ॥ १३ ॥

ऋषिः-उशनाः (कल्याण की कामना करनेवाला महानुभाव) ।

महान् मोक्षधाम में परमात्मा अध्यात्म यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले जन के अन्तरात्मा को तृप्त करता है—

कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥

(सत्पते) हे सत्पुरुषों मुमुक्षुओं के पालक रक्षक परमात्मन् ! (कस्य नूनम्) किसके सचमुच (धियः) मन, बुद्धि, चित्त अहंकाररूप प्रज्ञानों को* चेतनाओं को (परीणसि) भूमा में महत् कल्याण में एवं मोक्ष में+ (जिन्वसि) तृप्त करता है (ते गिरः–यस्य गोषाताः) तेरे लिए जिसकी स्तुतियां इन्द्रियों और मन में संगत हो गईं--बैठ गईं ।

परमात्मा के लिए जिसकी स्तुतियां इन्द्रियों और मन में स्थान ले चुकी हैं । इन्द्रियां अपने-अपने विषय से विरत हो परमात्मा में अनुरक्त हो गई हैं; उसी की स्तुतियों में रत हो गई हैं वही महान् आनन्द या महान् मोक्षधाम को प्राप्त होता है । उसी ही जीवनन्मुक्त आत्मा की भावनाएं तृप्त होती हैं । यह संसार का साधारण सुख तो परमात्मा की साधारण कृपा से सब को प्राप्त होता है; परन्तु उसकी सर्वतोभाव से परमस्तुति करने वाले पर उसकी परम कृपा हो जाती है, अत एव वह उसके प्रदान किये परम सुख या परम पद मोक्ष को प्राप्त करता है । परमात्मा कृपालु है, कृपा करना उसका सामान्य धर्म है, परन्तु परम कृपालु भी है, वह परम कृपा होती है उस पर, जो उसके लिए परम स्तुति प्रदान करता है । वह परम कृपा इसलिए है कि स्तुति भेंट के बदले परम आनन्द मोक्ष को प्रदान करता है यह भी उसका विशेष स्वभाव है ॥ १४ ॥

---

* "धीः प्रज्ञाननाम" (निघं० ३ । ६) ।

\+ "परीणसः–बहुनाम" (निघं० ३ । १) "भूमा वै सुखम्", (शत० ३।१।१।१२) "इनः–ईश्वर" (निघंटु) परिगत इनो यस्मिन्

× "यज्ञो वै गौः" (तै० ३ । ६ । ८ । ३) ।

चतुर्थ दशति

ऋषिः —शंयुर्बार्हस्पत्यः (बृहस्पति-विद्या निष्णात-आचार्य का शिष्य, शम्—कल्याण का इच्छुक*) ।

प्रत्येक यज्ञ और स्तुति से प्रसङ्ग में परमात्मा को प्रिय मित्र मान प्रशंसा करे—

यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥

(यज्ञा यज्ञा गिरा गिरा च) मेरे समस्त यज्ञ श्रेष्ठ कर्म और मेरी सकल स्तुतियां+ (वः-दक्षसे-अग्नये) तुझ प्रवृद्ध, सर्वत्र व्याप्त, गुणों से विख्यात प्रसिद्ध ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मा के लिए हैं । अतः (अमृतं जातवेदसम्) तुझ अमृतरूप सब उत्पन्न मात्र के उत्पादक, आधार और ज्ञाता को (प्रियं मित्रं न) प्यारे मित्र की भांति (वयं प्र प्र शंसिषम्) मैं परमात्मन्! प्रत्येक यज्ञ में और प्रत्येक स्तवन में बहुत बहुत एवं निरन्तर तेरी प्रशंसा करता हूं ।

परमात्मा प्रख्यात है, प्रसिद्ध है, उससे प्रसिद्ध कोई वस्तु नहीं, कोई व्यक्ति नहीं, साथ ही उसकी कृति—उसकी रचना तथा सर्वज्ञता नियन्तृता आदि उसे सर्वत्र द्योतित करती हैं और अध्यात्म प्रत्यक्षता भी योगी जनों की है । इस प्रकार परमात्मा में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रत्यक्षता हैं, कहा भी है—"यो

---

* "शंयुः सुखयुः" (निरु० ४ । २१)

+ यज्ञा यज्ञा गिरा गिरा । प्रथमैकवचने सुस्थाने आकारादेशः "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे···" (अष्टा० ७।१।३९) द्विरुक्तिः सकलार्था ।

विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षम्" (अथर्व० ६ । ६ । १), जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है।" "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि..."(तै० उप० १ । १ । १), तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। परमात्मा में अनुमान भी और आगम प्रमाण भी है। एवं समस्त प्रमाणों से उसकी प्रसिद्धि होने से वह सर्वथा प्रसिद्ध है। उससे बढ़कर कोई प्रसिद्ध नहीं। यहाँ उसे प्रिय मित्र समझ कर समस्त श्रेष्ठ कर्म, समस्त स्तुतियां उसके लिए एवं उसे लक्ष्य करके ही करने योग्य हैं। सच्चे यज्ञ और सच्ची स्तुतियां वही हैं जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए हों, लोकसिद्धि या अपनी प्रसिद्धि के लक्ष्य से किया हुआ यज्ञ या स्तुति सच्चे यज्ञ या सच्ची स्तुति नहीं। धर्म के दो अंग हैं, यज्ञ और परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, इन दोनों से दो सिद्धियां होती हैं। यज्ञों से अभ्युदय--सांसारिक कल्याण परमात्मा की अनुभूति के साथ। स्तुति, प्रार्थना, उपासना से निःश्रेयस—मोक्ष। इनसे यह दोनों अभीष्ट सिद्ध होते हैं अतएव ये दोनों धर्म हैं। जैसा कि वैशेषिक दर्शन में कहा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशे० १ । १ । २)। मन्त्र में परमात्मा को मित्र कहा है, वैसे परमात्मा हमारी माता भी है, पिता भी है, गुरु भी है, राजा भी है, परन्तु स्तुति प्रार्थना उपासना में सम्बन्ध, सखा का समान ख्यान का होता है। बाहिरी समवयस्कता भी समान धर्मता है, समान स्नेह, जो माता पिता आदि में नहीं घटते हैं, किन्तु माता 'मानात्—निर्माणात्' उत्पन्न करने से, पिता 'पालनात्' पालन रक्षण करने से, 'गुरुर्गरणात्' उपदेश से। इनमें सब एकदेशी धर्म हैं, दोनों ओर नहीं घटते, किन्तु दो सखाओं—मित्रों में दोनों ओर घटते हैं, अतएव उपासनाक्षेत्र में परमात्मा हमारा सखा या मित्र के रूप में है ॥१॥

ऋषिः—भर्गः (तापवान् प्रतापी जन)।

परमात्मा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद रूप चारों वाणियों द्वारा मानव की रक्षा करता है—

पाहि नो अग्न एकया पाह्यू त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

(ऊर्जां पते वसो-अग्ने) शक्तियों के स्वामी बसाने वाले ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मन्! तू (नः) हमारी (एकया पाहि) अपनी एक शक्तिरूप ऋग्वेद वाणी से-ऋग्वेदानुसार स्तुति-ज्ञान शक्ति से हमारी रक्षा कर (उत द्वितीयया पाहि) अपनी दूसरी शक्तिरूप यजुर्वेद वाणी से यजुर्वेदानुसार स्तुति-कर्मशक्ति से हमारी रक्षा कर (तिसृभिः-गीर्भिः) अपनी शक्तिरूप तीसरी❋ सामवेद वाणी से सामवेदानुसार स्तुति-उपासनाशक्ति से हमारी रक्षा कर (चतसृभिः पाहि) अपनी शक्तिरूप चतुर्थ अथर्ववेद वाणी से अथर्ववेदानुसार स्तुति-विज्ञान शक्ति से हमारी रक्षा कर।

परमात्मा वेदचतुष्टयी वाणी से समस्त विश्व की रक्षा करता है। यह उसका सार्वभौम स्वभाव है वह शक्तियों का पुञ्ज--सर्वशक्तिमान् है, और सब को बसाने वाला है। अपने उपासक की तो वेदोक्त ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति, उपासनाशक्ति और विज्ञानशक्ति से तथा उनके अनुरूप स्तुतियों से सर्वतो-भावेन रक्षा करता है। स्तुति, प्रार्थना, उपासना साक्षात्कृति-प्राप्ति से रक्षा करके हमारे अन्दर ऊर्जों-शरीर इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करने वाले आत्मबलों को प्रदान कर रक्षा करने वाला परमात्मा है। वेदों की भाषा और भाव ईश्वरीय

❋ एकवचने बहुवचनं व्यत्ययेन छान्दसम्।

होने से मानव में ऊर्जों को भरते हैं। लोक में जैसे किसी महात्मा की भाषा और उसमें निहित भाव मानव को उठाने के साधन बनते हैं। वेद तो परमात्मा की वाणी हैं, उससे अधिक हित होता है वह मानव के रक्षार्थ हैं, परमात्मा का हमें उपकार मानना और स्तुतिकीर्तन करना चाहिए ॥२॥

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (विद्यानिष्णात का शिष्य शम्-कल्याण का उत्सुक जन)।

परमात्मा अपनी अधिक स्तुति-प्रार्थनाओं से प्रकाशित होकर दिव्य धन प्रदान करता है—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ रेवत् पावक दीदिहि ॥३॥

(पावक-अग्ने देव) पवित्रकारक परमात्मदेव ! (बृहद्भिः-अर्चिभिः) हमारे द्वारा की गई बड़ी अर्चनाओं-हावभाव भरे स्तुतिवचनों से तथा (शुक्रेण शोचिषा) अपने शुभ्रज्ञानप्रकाश से (समिधानः) प्रदीप्त हुआ (यविष्ठ) नित्य युवा जरामरण से रहित❀ (भरद्वाजे रेवत्-दीदिहि) अर्चन ज्ञानप्रकाश बल को धारण करने वाले मुझ स्तोता के निमित ऐश्वर्यसम्पन्न प्रकाशमान होओ।

अग्नि के प्रदीप्त हो जाने का परिणाम एक भस्म कर देना, दूसरा वस्तु को चमका देना, चो आत्मा को अध्यात्म गुणों से चमका देना फल है, सोने की नाईं चमक की प्रार्थना है। पवित्र-कारक परमात्मा अपने स्तुतिकर्ता उपासक के द्वारा अर्चनाओं-हाव भाव भरे स्तुतिवचनों से और अपने शुभ्रज्ञानप्रकाशों के साथ ज्ञानपूर्ण उपासक के अन्दर अध्यात्मैश्वर्य स्थिररूप से

❀ "आत्मानं धीरमजरं युवानम् ।" (अथर्व० १० । ८ । ४४)

प्रकाशित करता है, उससे उसे चमका देता है। वह ऐश्वर्य व्यय होने वाला नहीं है, जैसे अन्य ऐश्वर्य व्यय हो जाने वाले हैं। संसार में सांसारिक ऐश्वर्य बिखरा हुआ है उसे जीवात्मा सांसारिक साधनों से घोर परिश्रमरूप कर्मद्वारा भटक-भटक कर प्राप्त करता है। परन्तु परमात्मा के अन्दर अध्यात्म ऐश्वर्य की सीमा नहीं, उसे उपासक स्तुतियों, अध्यात्म कर्मों से प्राप्त करता है यह ऐश्वर्य स्थिर है, संसार के नश्वर हैं॥३॥

ऋषिः—वसिष्ठः (परमात्मा में अतिशय से बसने वाला उपासक)

मनुष्यों में सच्चे धनी और दानी परमात्मा के प्रति स्तुति समर्पित करने वाले हैं वे सबके और परमात्मा के प्यारे हैं—

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥

(स्वाहुत-अग्ने) हे भली प्रकार आमन्त्रित किए हुए ज्ञान-प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! (ये सूरयः त्वे गोनाम्-ऊर्वं दयन्त) जो स्तुतिकर्ता उपासक जन× परमात्मन्! तेरे लिए❀ स्तुति वाणियों के बाहुल्य+ निरन्तर प्रवाह को प्रदान करते हैं (जनानां मघवानः-यन्तारः प्रियासः सन्तु) वे मनुष्यों में धनवान् दानी प्यारे हैं।

संसार में धनवान् और दानी मिल सकते हैं पर वे ऊंच्चे धन के धनी और ऊंच्चे धन के दानी नहीं है। क्योंकि संसार के धन जिनके वे धनी हैं वे नश्वर हैं या स्थिर नहीं रहनेवाले हैं,

× "सुरिः स्तोतृनाम" (निघं० २।१६।)
❀ "त्वे" चतुर्थ्यां शे "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छे" (अष्टा० ७।१।३९)
+ "उरु बहुनाम" (निघं० ३।१)

और यहीं तक काम आने वाले हैं, और यहीं रह जाने वाले है। उनके अपने नहीं हैं, वे तो परमात्मा के धन हैं। जो अपना धन नहीं उसका दान भी विशेष दान नहीं हाँ जो अपनी वस्तु है बाहिरी नहीं वह है स्तुति वचन और साधिकार स्तुति वचन वे हैं जिनके पास वे हैं सच्चे धनी, और आन्तरिक भाव से जो इनका दान परमात्मा के लिए करते हैं, वे हैं ऊंचे दानी, वे ही मानवों के और परमात्मा के प्यारे होते हैं। आश्चर्य है जिस धन का पता नहीं वह रहता है या नहीं उनसे लोग अपने को धनी मानते हैं जिसके न रहने पर एक दिन में द्ररिद्र बन जाते हैं उस अस्थिर वस्तु का दान भी क्या और फिर उस दान का फल भी अल्प और अस्थिर है ॥४॥

ऋषिः—भरद्वाजः (अर्चन ज्ञान बल को धारण करने वाला)

परमात्मा अपने स्तुतिकर्ता के हृदयसदन में आकर प्रवास नहीं करता—

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः ।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥

(जरितः—गृहपते देव-अग्ने) 'जरितः—जरयितः' + हे मानव को अपनी स्तुति की प्रेरणा देने वाले मेरे हृदयगृह के पालक अन्तर्यामिन् परमात्मदेव! तू (रक्षसः—तेपानः—विश्पतिः) दुष्ट को तपाने वाले और प्रजापालक राजा के समान ❀ मेरे हृद् गृह में वर्तमान होता हुआ (दिवः पायुः—महान् असि) अमृतलोक मोक्ष धाम का × का रक्षक है अत एव तू महान् है, इसप्रकार

+ "जरितः—जरयितः" अन्तगत णिजर्थः।
❀ "लुप्तोपमावाचकालङ्कारः।
× "पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु० ३१। ३)

महान् होकर भी (दुरोणयुः-अप्रोषिवान्) उस मेरे हृदय गृह को ❀ मेरे लिए चाहता हुआ तथा उसमें युक्त होकर उसे न छोड़ने वाला भी है।

परमात्मन्! तू दोषों और दुष्टों को तपाने वाले प्रजा के रक्षक राजा की भान्ति जैसे जिसके देश में जङ्गल और नगर में चोर डाकू का भय नहीं है वही रक्षा करने वाला कल्याणकारी राजा है +। एवं तू मेरे हृदय घर का रक्षक तथा अपने मोक्षधाम का भी रक्षक है, और तू महान् पालक है। मेरे छोटे से घर में पधारता है। संसार में महान् बड़े आदमी किसी छोटे घर में नहीं आते परन्तु तू मेरे छोटे घर में आता है क्योंकि तू दयालु कृपालु है। मुझे अपनी स्तुति की प्रेरणा देने वाला, साथ ही मेरें हृदय घर में आने वाला ऐसा है कि जब अपनी स्तुतियों द्वारा वहां आ गया तो तू अपनी कृपा बरसाने और आनन्द को उसे देने के लिए त्यागता भी नहीं अपने उपासक के साथ रहने वाला बन जाता है। पुनः अपने मोक्षधामरूप घर में ले जा कर साथ रखने वाला है ॥५॥

ऋषिः—प्रस्कण्वः (प्रकृष्ट मेधावी)

परमात्मा अपने समर्पणकर्ता के अन्दर अपने प्रकाश को जागृत करने वाले गुणों को प्रदान करता है—

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रꣳ राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्य देवाँ उषर्बुधः ॥६॥

❀ "दुरोणं गृहनाम" (निघं० ३।४) छन्दसि परेच्छायां क्यच्।
+ क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते"
आपस्तम्बीय० २।१०।२५।११

(जातवेदः—अमर्त्य-अग्ने) हे उत्पन्नमात्र में व्यापक एवं उनके उत्पन्न करने वाले तथा जानने वाले अमर परमात्मन् ! तू (दाशुषे) आत्मसमर्पण कर चुकने वाले उपासक के लिए (उषसः) स्वप्रकाशरूप मोक्षधाम के मोक्षधामसम्बन्धी (विवस्वत्-चित्रं राधः) विशेष सुख जिसमें वसा है, आत्मा का विशेष वास कराने वाले अद्भुत अलौकिक धन ऐश्वर्य को (आवह) प्राप्त करा और (त्वम्-अद्य-उषबुधः-देवान् "आहव") तेरे प्रकाशात्मक मोक्षधाम का बोध कराने वाले दिव्यगुणों-शक्तियों वृत्तिव्यवहारों को आज-इसी जीवन में संस्थापित कर।

परमात्मा के प्रति अपना समर्पण-उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना द्वारा पूर्ण आस्तिकता के साथ कर देने पर वह उस आत्मसमर्पी को मोक्षैश्वर्य प्रदान करता है साथ ही मुक्ति से पूर्व उसके अन्दर देववृत्तियों को जागृत करके स्थायीरूप से संस्थापित कर देता है, उसे जीवन्मुक्त बना देता है और मोक्ष साधनों में श्रद्धा के साथ प्रेरित कर देता है। परमात्मा अमर्त्य है, जीवात्मा मर्त्य है। यह कामनाओं में फंस कर मर्त्य बन जाता है—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"(कठो०वल्ली ६।१४) जब हृदय में रखी सारी कामनाएं छूट जाती हैं, तब यह मर्त्य अमृत बन जाता है। इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त होता है, ब्रह्मानन्द का सेवन करता है। कामनाओं के पीछे मर्त्य बनता है। कामना न प्राप्त हो तो 'हाय मैं मरा' कहता है, कामनाओं को प्राप्त कर अतिसेवन से कष्ट पाता हुआ कहता है 'हाय मैं मरा'। कामनाएं कमनीय पदार्थ नष्ट हो जाने पर भी कहता है 'हाय मैं मरा', अन्त में देह त्यागता हुआ भी उनसे वियोग हो

जाने पर हाय, मैं मरा, मैं मरा, कहता हुआ देह त्यागता है ॥६॥

ऋषिः—तृणपाणिः (समित्पाणि की भान्ति तुच्छ हाव-भाव रूपभेंट लिए हुए समर्पित करने वाला नम्रीभूत विरक्तिमान् उपासक)।

उपासक के लिए परमात्मा विचित्र धनों को देता है और उसके अन्दर ब्रह्मचर्य या संयम की प्रतिष्ठा बढ़ाता है—

त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधाँसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥७॥

(चित्र वसो-अग्ने) हे अद्भुत गुणशक्तिसम्पन्न तथा सब के अन्दर बसने वाले एवं सबको वसाने वाले और स्वयं वसुरूप प्रकाशमय परमात्मन्! (त्वं नः) तू हमारी (ऊत्या) रक्षा के हेतु (राधांसि चोदय) संसिद्ध धनों गुण शक्तियों को प्रेरित कर (अस्य रायः-रथीः-असि) इस अभीष्ट-धनैश्वर्य का तू रमणकर्ता-धनैश्वर्यमय-धनस्वामी अथवा धनरूप रथ का ईरयिता-प्रेरक प्रदाता है (नः-तुचे तु गाधं विदा) हमारे 'तुचे' सन्तानोत्पादन के लिए जो तो गाध प्रतिष्ठा + वीर्य-बीजशक्ति है उसे प्राप्त करा जीवन में संयत कर उसे करने धारण करने का संयम दे।

परमात्मा अद्भुत देव है वह अपनी कृपा से हमें वसाता है। हमारे वसने के सब साधन देता है, और वह संसिद्ध धनों गुणशक्तियों अंगों को हमारी ओर प्रेरित करता है प्रदान करता है। वह उन रमणीय धनों साधनों का स्वामी है उनमें निरन्तर रमण करता हुआ उन्हें हमें प्रदान करता है और हमारे शरीर

+ ''गाधृ प्रतिष्ठा'' (भ्वादि०)।

के अन्दर (स्वसदृश) सन्तति को उत्पन्न करने वाली शक्ति जीवन की मूल धातु को संस्थापित करता है। सन्तानोत्पत्ति से अतिरिक्त उसको हमारे अन्दर संयत करने का बल देता है। हमें संयम में चलाता है क्योंकि वह संयत वस्तु ब्रह्मचर्य जीवन का या देह का अपूर्व स्नेह है। परमात्मा की ज्योति के प्रकाशित होने के निमित्त तत्त्व है। स्नेह से ही दीपक में ज्योति आती है। उससे ही मृत्युरूप तम को भगाया जाता है और अमर पद प्राप्त किया जाता है॥७।

ऋषिः—विरूपः (परमात्माको विविधरूपों में कहने वाला महानुभाव!)

परमात्मा पाप से, अज्ञान से, मृत्यु से बचाता है—

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातऋ्तः कविः।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आविवासन्ति वेधसः॥८॥

(त्रातः समिधान ❀ दीदिवः-अग्ने) हे त्राणकर्ता, अपने सद्गुणों से चमकने वाले, ज्ञान प्रकाश प्रदान करने वाले परमात्मन्! (त्वम्-इत्) तू ही (सप्रथाः-ऋतः-कवि-असि) सर्वतः पृथु-सर्वत्र फैला हुआ-सर्वत्र व्याप्त + सर्वशक्तिमान् सत्य व्रती १ सर्वज्ञ है (त्वां वेधसः-विप्रासः-आविवासन्ति) तुझे वेधन करने वाले लक्ष्य बनाने वाले][मेधावी विद्वान् भली

❀ "समिन्धान-समिन्धयमान" अत्रान्तर्गतो णिजर्थः।

+ "सप्रथाः सर्वतः पृथुः···" (निरु० ६।७)

१ "ऋतः—ऋतवान्' अकारो मत्वर्थीयः"

][जैसे उपनिषद् में कहा है-"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य मुच्यते" (मुण्डको० २।२।४)

प्रकार अपने अन्दर सेवन करते हैं–गुण स्तवनादि द्वारा धारण करते हैं।

परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्तवर्ती महान् सर्वशक्तिमान् है उसके सम्मुख सब एकदेशी हैं अल्प हैं निर्बल हैं न्यूनबलवाले हैं, अतएव परमात्मा सबका त्राणकर्ता है उस जैसा त्राणकर्ता अन्य नहीं। वह सत्यवान् सत्यव्रती है, उसके द्वारा जीवों को कर्मफल देने में सत्यता–न्याय है, सृष्टि की उत्पत्ति में सत्यता, धारण नियमन में भी सत्यता है अतएव परमात्मा समिधान समिन्धयमान अपने सद्व्रतों से असत् का अनृत का पाप का तापक नाशक है। परमात्मा कवि–ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ है अन्तर्यामी है अत एव दीदिवान्–अज्ञान मिटाकर ज्ञान प्रकाश देने वाला है। उसके इन गुणों के कारण प्रार्थना की परम्परा है "असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय" (शत० १४।३।१।३०, बृहदा०१।३।२८) समस्त वेधनशील विद्वान् लक्ष्य वेधन करने वाले जनों की भांति ब्रह्मलक्ष्य का वेधन करते हैं, उपनिषद् में कहा भी है "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥" (मुण्ड० २।२।४) ओ३म् वाचक धनुष हो, आत्मा शर–बाण, ब्रह्म लक्ष्य है। लक्ष्यवेधन की भांति आत्मा शर–ब्रह्म लक्ष्य में पहुँचना चाहिए। ८॥

ऋषिः – आजीगर्तः शुनःशेपः (इन्द्रिय भोगों की दौड़ के शरीर गर्त में गिरा भोग विलासी जन)।

परमात्मा उपासक की आयु को बढ़ाता और उसके आन्तरिक जीवन का निर्माण करता है—

आ नो अग्ने वयोवृधꣳरयिं पावक शꣳस्यम् ।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥

(पावक-उपमाते-अग्ने) हे पवित्र करने वाले, जीवन को ऊंचा बनाने वाले, अग्रणायक परमात्मन् ! (नः-वयोवृधं-शंस्यं-आरास्व) हमें आयुवर्धक प्रशंसनीय ओजरूप धन को प्राप्त करा (पुरुस्पृहं सुयशस्तरं च सुनीती) बहुत अतीव स्पृहा-इच्छा जिसके लिए उस बहुत स्पृहणीय सच्चे महायशस्कर ज्ञानरूप धन को भी सरल तथा निर्दोष नीति-यात्रापद्धति से प्रदान कर ।

परमात्मा उपासक के अन्दर प्रकाशमान होकर उसके भीतरी जीवन का निर्माण करता है। उसकी काया पलट कर देता है, अपितु उसके अन्दर ऐसी प्रशंसनीय कान्ति या तेजःशक्ति प्रदान करता है जो उसकी आयु को या जीवनगति को बढ़ाता चला जाता है, और मोक्षधाम की आयु तक प्राप्त कराता है। बड़ी सरल तथा विशुद्ध पद्धति से चाहने योग्य महायशस्कर आध्यात्म धन को प्रदान करता है। एवं शारीरिक सुख और अध्यात्मिक सुख से उपासक को भरपूर कर देता है। आयु की वृद्धि और जीवन में कान्ति मानव की आकांक्ष्य बातें हैं ये दोनों बाहिरी और भीतरी निर्माण के फल हैं। उपासना कर्म से सिद्ध होते हैं। साथ आध्यात्मिक ऐश्वर्य मोक्षैश्वर्य भी प्राप्त होता है ॥९॥

ऋषिः—सौभरिः (सुभर-सुभरण परमात्मा से प्राप्त गुणों को अपने अन्दर भरने में और परमात्मा को स्वोपहार प्रदान करने में कुशल)।

सब कुछ प्रदान करने वाले परमात्मा को स्तुतियों से भरे वचन मधुर रस भरे पात्रों के समान अर्पित करे—

यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

(यः–होता मन्द्रः–जनानाम्) जो हर्षित करने वाला दाता परमात्मा जनों के लिए + (विश्वा वसु दयते) समस्त प्रकार के धनों को देता है । (अस्मै–अग्नये) इस ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा के लिए (मधोः–न प्रथमानि पात्रा) मधुर रस के प्रथम पात्रों–श्रेष्ठ पात्रों–ऊपर ऊपर के मधुर रस भरे पात्रों के समान (स्तोमाः प्रयन्तु) हमारे स्तुति वचन हाव भाव रस भरे प्राप्त हों ।

परमात्मा के प्रदान किये धन बहुत प्रकार के हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती, वह उदरपूर्ति के लिए अन्न, स्वाद के लिए फल, स्वास्थ्य के लिए ओषधि, सुखलाभ के लिए पहिनने ओढ़ने आदि के वस्त्र साधन, निवास गमन रक्षादि के लिए अन्य काष्ठ लोहादि वस्तुएं, भूषार्थ स्वर्णादि धातुएं और विविध रत्न सूर्य चन्द्रादि, पीने नहाने धोने के लिए जल, ताप प्रकाशार्थ अग्नि, श्वास लेने केलिये वायु दिये हैं इनके प्रतीकार में या प्रतिदान (बदले) में कृतज्ञता प्रदर्शित करने को केवल उसके प्रति स्तुति वचन ही प्रस्तुत कर सकते हैं,सो स्तुति वचन हाव भाव भरे प्रमुख मधुररस भरे पात्रों के समान होने चाहियें । तब हम उसकी कृतज्ञता प्रकट कर सकते हैं, साथ ही उसकी कृपा के पात्र बनकर उसके सङ्ग का लाभ ले सकते हैं । स्तुति के लाभ

+ "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" (अष्टां० २ । ३ । ६२)

तीन हैं–कृतज्ञता प्रकट करना, भद्रता या मानवता का कर्त्तव्य पालन करना, ईश्वर में प्रीति होना–उसका कृपापात्र बनाना, अपने जीवन में सद्गुण लाभ लेना। स्तुति का अर्थ गुणकीर्त्तन है, अन्य जनों के कीर्त्तन तो लौकिक लाभार्थ ही हैं, अपितु भोग्य वस्तुओं का कीर्त्तन तो भोगप्रवृति बढ़ा कर पतन का कारण है। परन्तु अध्यात्म लाभ या परमानन्द प्राप्ति तो ईश्वर की स्तुति–कीर्त्तन से ही सम्भव है।

पञ्चम दशति

ऋषिः—वसिष्ठो वामदेवो वा (परमात्मा में अत्यन्त वसने वाला उपासक अथवा ज्ञान गति प्राप्ति युक्त जन)।

परमात्मा नम्र स्तुति से चेताने वाला और आत्मबल बढ़ाने वाला है—

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

(ऊर्जः–नपातम्) अपने और मेरे नियन्त्रणात्मक आत्मबल के न गिराने वाले (प्रियम्) स्नेह करने वाले और स्नेह के पात्र सम्बन्धी जन गुरु सखा आदि (स्वध्वरम्) हिंसा--कुटिलता से रहित अच्छे यज्ञवाले (चेतिष्ठम्) अत्यन्त चेताने वाले (अरतिम्) रति—कामवासना भोग विलास से रहित तथा प्राप्त करने योग्य शरण्य (विश्वस्य दूतम्–अमृतम्–अग्निम्)

सब को अपना सन्देश देने वाले अमृत अमरस्वरूपवान् तुझ अग्नि को (एना नमसा—आहुवे) इस आध्यात्मिक स्तुतिरूप नम्रभाव से अपने अन्दर बुलाता हूं।

क्या कहना ? मेरे परमात्मन्! तू स्वयं अपने तथा उपासक के ऊर्जों सर्वविध नियन्त्रणात्मक आत्मबलों को न गिराने वाला है। तेरा आश्रय उपासक को गिरने से बचाता है अपितु ऊपर ही उठाता है, ऊपर उठाते-उठाते एक दिन अपने अमृत मोक्षै-श्वर्य के प्रसाद का चिरकाल तक सेवन करने का भागी बनाता है। संसार की जड या चेतनवस्तु जरा को प्राप्त हो जाती है, उसका सहारा गिराता ही है उठाता नहीं, अपितु परमात्मन्! तू उपासक को चेताने वाला और चेष्टाकुशल बनाने वाला है। सब का प्यारा है परन्तु उपासक का अधिक प्यारा, प्यार करने वाला और अपना सत्य सन्देश देने वाला—अपनी ओर आक-र्षित करने वाला है। मानव को तेरी स्तुति अवश्य करनी चाहिए तू नमस्कार करने योग्य है ॥ १ ॥

ऋषिः—भर्गः (तेजस्वी प्रतापी)।

परमात्मा का साक्षात्कार उपासक को देव श्रेणी में पहुं-चाता है—

शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद् देवेषु राजसि ॥२॥

(वनेषु मातृषु शेषे)❀ हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू रश्मियों+ अर्थात् निरालम्बन आकाश के अन्दर प्रसार करती

❀ अत्र लुप्तोपमानोपमावाचकालङ्कारः, अग्निरिव।

+ "वनं रश्मिनाम" (निघं० १।५)

हुई तेजोमयी किरणों में भौतिक अग्नि की भांति, एवं मानव मस्तिष्क के अन्दर वर्तमान ज्ञानतन्तुओं में भी जीवात्मचेतनाग्नि के समान× और पृथिवी पर बहती हुई नदियों में भौतिक अग्नि की भांति‡ एवं शरीर के अन्दर प्राणादि की वाहिका नाड़ियों में भी जीवात्मचेतनाग्नि की भांति❀ निहित रहता है (त्वा मर्तासः—इन्धते) उस तुझ अग्निरूप परमात्मा को मरणधर्मी मनुष्य अन्दर प्रदीप्त करते हैं (अतन्द्रः) वह तू तन्द्रारहित, सावधान-अनन्त ज्ञानवान् हुआ (हविष्कृतः—हव्यं वहसि) आत्मसमर्पणकर्ता की हाव-भाव भरी स्तुतिरूप भेंट को वहन करता है—स्वीकार करता है, अपनाता है (आत्-इत्) इसके अनन्तर ही तू (देवेषु राजसि) उन आत्मसमर्पणरूप हवि देने वाले मर्तो-मरणधर्मी जनों को देवों में, अमरों में, मुक्त आत्माओं में विराजित कर देता है+।

परमात्मन्! तू आकाश में वर्तमान रश्मियों-किरणों में और पृथिवी पर वर्तमान जलधाराओं में भी अदृश्य भौतिक अग्नि की भांति अदृश्य रूप में रहता हुआ वर्तमान है, तथा तू मानव मस्तिष्क के अन्दर ज्ञान तन्तुओं में और शरीर के अन्दर प्राणनाड़ियों में भी अदृश्य जीवात्मा चेतनाग्नि की भांति अदृश्य रूप में वर्तमान है तुझे उपासक अपनी स्तुतियों से

× "यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन्।
(शत० ६।१।२।३)

‡ "मातरः—नद्यः" (निघं० १।१३)

❀ "सीरा नद्यः" (निघं० १।१३) 'सीरा नाड्यः" यथा वेदे "सीरा युञ्जन्ति कवयो-" (यजु० १२।६७)।

+ "राजसि—राजयसि" अन्तर्गतणिजर्थः।

वैराग्य पूर्वक मन में बिठाता है, और नाड़ियों में अभ्यास सिद्ध कर हृदय में साक्षात् करता है। ऐसे उपासक को तू परमात्मन्! मुमुक्षुओं मुक्त आत्माओं की श्रेणी में पहुंचा देता है। अपना मोक्षैश्वर्य रूप पुरस्कार प्रदान करता है ॥ २॥

ऋषिः—सौभरिः (परमात्मा के ज्ञान प्रकाश को अपने अन्दर धारण करने में निष्णात जन)।

साक्षात् किया परमात्मा श्रेष्ठ गुणों का वर्धक है—

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥३॥

(यस्मिन् व्रतानि-आदधुः) जिसके निमित्त मनुष्य व्रतों-ब्रह्मचर्य* अहिंसासत्यादि यम नियमों का आधान अनुष्ठान करते हैं+ वह (गातुवित्तमः-अदर्शि) हमारी समस्त गतिविधियों को‡ भली भांति जानने वाला सर्वज्ञ अन्तर्यामी दृष्ट होता है—साक्षात् हो जाता है। उस ऐसे (आर्यस्य वर्धनं सुजातम्-अग्निम्) आर्य परमात्मा के पुत्र श्रेष्ठजन व्रतचारी तथा आर्यभावों+ श्रेष्ठ गुणों के वर्धक, भली भांति प्रकटीभूत परमात्माग्नि को (नः-गिरः) हमारी स्तुतियां (उपनक्षन्तु-उ) निरन्तर प्राप्त होती रहें§।

जो परमात्मा हमारी सब गतिविधियों को जानता है वह

---

* "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" (कठो० १। १। १५)।

+ "आदधुः" छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३।४।६) सामान्यकाले।

‡ "गातुः—गमनम्" (निरु० ४। २२)

+ "आर्यस्य" भावप्रधानो निर्देशो भावार्थको वा।

§ "नक्षति गतिकर्मा" (निघं० २। १४)।

साक्षात् दृष्ट हो गया। अरे! जिसके निमित्त जिसकी प्राप्ति के निमित्त यम नियम अहिंसादि व्रत मनुष्य धारण करते हैं उसका साक्षात्कार हो गया। वह आर्य भावों का बढ़ाने वाला है उसे हमारी स्तुतियां प्राप्त होती रहें। उसे जैसे-जैसे हम स्तुतियों को प्रदान करते रहेंगे वैसे-वैसे वह अपने पुत्रों श्रेष्ठ जनों को उन्नत करता रहेगा, हमारे अन्दर आर्य भावों श्रेष्ठ गुणों को देता रहेगा—भरता रहेगा।

ऋषिः—मनुः (मननशील जन)।

वाणीयज्ञ में शरीर के अन्दर वर्तमान प्राणादि को यज्ञिय भावनाओं से युक्त करना चाहिये—

अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥

(उक्थे-अध्वरे) स्तुतिवाक् के द्वारा या स्तुतिवाङ्मय यज्ञ में, अध्यात्म यज्ञ में (अग्निः पुरोहितः-ग्रावाणः-बर्हिः) अग्नि तो है विश्वनायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मदेव। शेष अनिवार्य आवश्यक हैं-पुरोहित, ग्रावाणः—विद्वान् ऋत्विक्* बर्हिः—यज्ञासन सो (ब्रह्मणस्पते ! मरुतः ! देवाः !) हे मेरे शरीर के अन्दर वर्तमान अन्तःकरणयुक्त मुख्य प्राण×, अन्य प्राणो !+,

* "ग्रावाणः—पदनाम" (निघं० ५। ३) "विद्वांसो हि ग्रावाणः" (शत० ३। ६। ३। १४)

× "प्राणो वै ब्रह्मणस्पतिः" (शत० १४। ४। १। २३)

+ "प्राणो वै मारुताः" (शत० ६। ३। १। ७)
"प्राणाः—देवाः" (शत० ६। ३। १। १५)

और इन्द्रियो !१, तुम हो। अतः (वरेण्यम्-अवः-ऋचा यामि) यजनीय परमात्मासे वरने योग्य रक्षण को स्तुति के द्वारा मांगता हूँ—चाहता हूं। तुम इस वाक्-यज्ञ को—स्तुतियज्ञ को सम्यक् सिद्ध करो।

वाग्यज्ञ-स्तुति यज्ञ में यज्ञसाधक बाहिरी अपेक्षित नहीं होते। यजनीय देव तो अग्नि-ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा प्रधान अधिनायक है ही, पुरोहित है हृदयस्थ अन्तःकरणसहित मुख्य प्राण, ऋत्विक् हैं अन्य अपान समान आदि प्राण और यज्ञ के आसन स्थानीय हैं इन्द्रियां, अपना आत्मा यजमान है ही, शरीर या देह वेदि है जहां आत्मा यजमान यजनीय देव परमात्माग्नि का सन्दीपन करना चाहता है या किया करता है स्तुतिरूप आहुतियों के द्वारा। हृदयस्थ अन्तःकरणसहित मुख्य प्राण पुरोहित परमात्मा के गुणगान का प्रस्ताव करता है—परमात्मरूप अग्नि का आधान करता है अन्य समस्त प्राण ऋत्विक् उसके साथ मिल कर स्तुतिरूप आहुति प्रदान करते हैं। आसन बनी हुई इन्द्रियाँ भी शरीर वेदि में अडिग अचल अपने-अपने व्यवहार से रहित संयत-संयम से वर्तमान रहती हैं। इनके निजी व्यवहारों में जाने से रोक-थाम प्राण करते हैं। इस प्रकार ये सब यज्ञिय भावना से प्रवृत्त हुए अध्यात्म यज्ञ के सम्पन्न करने में लग कर परमात्माग्नि का प्रकाशन करते हैं जो कि मानवदेहरूप वेदि की सार्थकता और सफलता है। अध्यात्म यज्ञ के रचाने और सुसम्पन्न करने में मानव के समस्त बाहिर भीतर के अङ्ग यज्ञमय या यज्ञिय भावना से ओत प्रोत हो जाते हैं ॥ ४ ॥

---

१ "प्राणाः-इन्द्रियाणि" (तां० २ । १४ । २)।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीढौ (सु-सर्वोत्तम दान जिसका हो ऐसा, और बहुत सुख सम्पत्ति से सिक्त महानुभाव)।

धन सम्पत्ति से सम्पन्न सुरक्षित नहीं किन्तु परमात्मा के प्रति अपना समर्पण ही सुरक्षा है—

अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥

(पुरुमीढ-अवसे गाथाभिः) हे बहुत सम्पत्ति से सिक्त हुए सिंचे हुए जन ! तू अपनी रक्षा के लिए वाणियों* वैदिक स्तुतियों के द्वारा (शीरशोचिषम्-अग्निम्-ईडिष्व) केवल सांसारिक सुख में ही रत न रह, मात्र इसमें ही सन्तुष्ट न रह। अरे! शयनशील व्यापन शक्ति ज्योति वाले परमात्माग्नि की स्तुति कर, तथा (राये श्रुतम्-अग्निम्) उस सांसारिक सुख से बढ़ कर मोक्षैश्वर्य के लिए प्रसिद्ध परमात्मा की स्तुति कर। जो (सुदीतये—अग्निः-नरः-छर्दिः) सुसम्यक् दीति-दान स्वात्म-समर्पण करने वाले पात्र के लिए नायक परमात्माग्नि शरण+ हो जाया करता है, अतः उसकी स्तुति कर।

मानव को केवल सांसारिक सुख सम्पत्ति पाकर अपने को कृतकृत्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह अस्थिर है। अपितु उसके कारण मानव अरक्षित भी हो जाता है। सच्ची रक्षा तो अध्यात्म में, परमात्मा की शरण में ही है। सर्वत्र व्याप्त ज्योति-वाले परमात्मा की वेदवचनों से स्तुति करनी चाहिए जो परमात्मा सांसारिक सुख देता है वह अपना समर्पण करने वाले

* "गाथा वाङ् नाम" (निघं० १।११)
+ "छर्दिः गृहनाम" (निघं० ३।४)।

अधिकारी को स्तुतियों का सुफल मोक्षैश्वर्य प्राप्त करने को अपनी अनश्वर शरण भी देता है ॥ ५ ॥

ऋषि—प्रस्कण्वः (प्रकृष्ट मेधावी)।

परमात्मा उपासक के हृदय में अग्नि विद्युत् सूर्य जैसा गुण प्रकाश करता हुआ आता है—

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आसीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

(श्रुत्कर्ण-अग्ने) हे श्रवणसमर्थ कर्णशक्ति वाले-श्रवणार्थ शक्तिरूप कर्ण वाले परमात्मन् ! तू (श्रुधि) मेरी प्रार्थना को सुन और स्वीकार कर। वह यह कि (अध्वरे बर्हिषि) मेरे अध्यात्म यज्ञ में हृदय में (सयावभिः-वह्निभिः-देवैः) साथ गमन करने वाले-साथ प्राप्त होने वाले निजस्वरूपवाहक देवों-गुणों के साथ, तू आ विराज*। तथा (मित्रः-आसीदतु) आप मित्ररूप—विद्युद्रूप में भी आ विराजें। (प्रातर्यावभिः-[1] अर्यमा 'आसीदतु') आप अपने प्रातः—अपने से प्रथम आने वाले, प्राप्त होने वाले, गुणों के साथ सूर्य की भांति सूर्यरूप हुए भी आ विराजें।

परमात्मा स्तुति आमन्त्रण को सुनने में और उसे स्वीकार करने में पूर्ण समर्थ है भौतिक अग्नि, विद्युत्, सूर्य जड़ होने से स्तुति नहीं सुन सकते। चेतन मनुष्य भी अनवधानता, उपेक्षा, अनुदारता आदि दोषों तथा प्रार्थनीय के अभीष्ट के प्रदान

---

* 'आ सीद, तू आ, यह आकांक्षा है।

[1] "अर्यमा-आदित्यः" (निरु० ११। २३)।

में असमर्थ होने से नहीं सुन सकते। परन्तु परमात्मा के गुण और शक्तियां असीम और सर्वत्र व्याप्त हैं। वह हृदय में आता है अग्निरूप में भी, अपने गुण-शक्तियों-ज्वालाओं के साथ सूर्यरूप में भी किरणों-गुणशक्तियों के साथ और विद्युत् रूप में भी अपनी गुप्त तरङ्गों-गुणशक्तियों के साथ आता है। उपासक के अन्दर तेज, ज्ञान-प्रकाश और बल को प्रदान करता हुआ आता है मानव की दरिद्रता, अज्ञानता, और निर्बलता का नाश कर देता है ॥ ६ ॥

ऋषिः - सौभरिः (परमात्मा को अपने अन्दर धारण करने में कुशल)।

परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का शासनकर्ता और मोक्षधाम का विधाता भी है—

प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

(दैवोदासः—अग्निः-देवः) द्युलोक के दर्शक सूर्य ❀ में वर्तमान उसका भी प्रकाशक अग्निरूप परमात्मा देव (नाकस्य शर्मणि तस्थौ) आनन्दके घर में स्थितहुआ मुक्तार्थ आनन्द के भवन मोक्षधाम त्रिपादरूप में स्थित हुआ + (मातरं पृथिवीं प्र-अनु-

---

❀ "दिवोदासः" इति-अलुक् समासः, षष्ठीविभक्तेरलुक्। दिवो-द्युलोकस्य दासो दर्शको दर्शनीयो वा सूर्यो दिवोदासः "दस दर्शने" (चुरादि०)तत्र दिवोदासे सूर्ये भवः-दैवोदासः परमात्मा। "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओम् खं ब्रह्म।" (यजु० ४० । १७)

+ "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ० १० । ६० । ३)

वि वावृते) समस्त वस्तुओं की निर्माण स्थली एक पाद मात्र जगती-सृष्टि के प्रति 'प्र वावृते' पुनः पुनः प्रवृत्त होता है उसे पुनः पुनः उत्पन्न करता है। 'अनु वावृते' उसका पुनः पुनः अनुवर्तन करता है उसे शासित करता है-पुनः पुनः धारण करता है। 'विवावृते' उससे विगत होता है उसका पुनः पुनः संहार करता है। परमात्मा का सृष्टि के प्रति यह विविध वर्तन ऐसा है (इन्द्रः-न मज्मना) जैसे राजा शासन बल से राष्ट्र को शासित करता हुआ इसे प्रवृद्ध बनाता उसका रक्षण करता और समय पर उससे निवृत्त भी हो जाता है। वह ऐसा परमात्मा मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व मेरे हृदयसदन में प्राप्त हो।

आकाश में प्रकाशमान सूर्य का प्रभाव मानव पर बहुत पड़ता है। परन्तु इसके ताप और प्रकाश को देखकर मुग्ध न होना चाहिये क्योंकि इसमें ऐसी शक्ति देने वाला, इसका भी प्रकाशक परमात्मा है जो मुक्तों के लिए आनन्द के भवन मोक्ष-धाम में विराजमान त्रिपात् अमृतरूप रहता हुआ सृष्टि को उत्पन्न करता, उसका धारण रक्षण करता और प्रलय भी करता है। राजा की भान्ति उसका शासन सृष्टि पर है किसी अन्य का नहीं। उसे अपने हृदय में आमन्त्रित करना और धारण करना चाहिये ॥७॥

ऋषिः-मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च (मेधा से अतन गमन-प्रवेश करने वाला और पवित्र गति करने वाला ।

देवता-इन्द्रः (ऐश्वर्यवान् परमात्मा)।

परमात्मा पृथिवी और द्युलोक की अपनी कला से प्रसिद्ध हुआ स्तुति द्वारा उपासक के अन्दर प्रवृद्ध होता है —

अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥

(जात सुक्रतो) हे प्रसिद्ध सुकर्मवाले तथा सुप्रज्ञान-वाले परमात्मन् ! तू (अध ज्मः-अधवा बृहतः-रोचनात्-दिवः-अधि) अथवा पृथिवी ❀ से पार्थिव पत्ती फूल फलादि वस्तुओं में वर्तमान तेरे गुणों से भी (मम गिरा-अया तन्वा वर्धस्व) मेरे द्वारा की गई स्तुति से इस अपनी द्यावापृथिवी में वर्तमान तनु से-अल्प प्रसिद्धरूप स्वरूप से बढ मेरे अन्दर साक्षात् हो और (पृण) मुझे तृप्त कर ।

पृथिवी के विविध पदार्थों पत्ती फूल फलों, सोने चान्दी रत्नों, पशु पक्षी सरिसृपों, कर्म फलानुसार प्राप्त भान्ति भान्ति आकार वाले मनुष्यों, सरित सागर पर्वतों में परमात्मा के रचनागुणों के दर्शन से एवं द्युलोक में वर्तमान नक्षत्र ग्रह तारों में परमात्मा के कृतिगुणों का दर्शन करने से परमात्मा का साक्षात् होता है; और वह स्तुतियों से बढ़ता जाता है। अत एव मैं उस अपने प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि चाहे मैं पृथिवीरूप पदार्थों में तेरे गुण देख कर या द्युलोकस्थ पदार्थों में तेरे गुण देख कर तेरी स्तुति करूं, तू मेरे अन्दर किसी भी ओर से अपना दर्शन दे, और निरन्तर बढ़ बढ़ कर दर्शन देकर मुझे तृप्त कर ।।८।।

ऋषिः-विश्वामित्रः (सबका मित्र या सबको मित्ररूप में देखने वाला जन) ।

परमात्मा के साक्षात्कार में वैराग्य की प्रधानता—

❀ "ज्मा पृथिवीनाम" (निघं० १.१.१.)

कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः ।

न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः ॥६॥

(अग्ने) हे अग्निरूप परमात्मन् ! तू (वना कायमानः) रश्मियों–ज्ञान–तन्तुओं–वैराग्य–प्रवृत्तियों को+अपेक्षित रखता हुआ मेरे प्रमाद से (यत्–मातृः-अपः-अजगन्) शरीर की बहती हुई नदियों–नाड़ियों–प्राणनाड़ियों में चला गया–नाड़ियों में अभ्यास साधने के कारण ज्ञान या वैराग्य से रहित अभ्यास मात्र से प्राणसंस्थानों में छिप गया न मिल सका (तत् ते निवर्तनं न प्रमृषे) वह यह तेरा मेरी ज्ञान वृत्ति या वैराग्य दृष्टि से हट जाना मैं सहन नहीं करता हूँ । क्योंकि (यद्–दूरे सन्-इह–अभुवः) जो तू मेरी ध्यान दृष्टि से दूर होता हुआ यहां मेरे अन्दर साक्षात् हो सके ।

परमात्मा का साक्षात्कार मस्तिष्क और हृदय दोनों के साथ सम्बन्ध रखने वाले वैराग्य और अभ्यास से होता है । इन दोनों में भी वैराग्य का स्थान ऊंचा है । योगदर्शन में व्यास जी ने कहा भी है–"तस्य परं वैराग्यमुपायः" (योग० १ । १८ पर व्यासभाष्य) असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय परवैराग्य है । उसे त्याग कर अभ्यास से परमात्मा का साक्षात्कार करने की आशा रखना तो परमात्मा को अपने से दूर करना है । जैसे घृतादि इन्धन से साक्षात् अग्नि को न प्राप्त करके उस पर जल डाल देना है । हाँ अभ्यास और वैराग्य का सेवन करते हुए पर-वैराग्य हो जाने पर वैराग्य ही वना रहता है असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय यह पर वैराग्य ही है ।।६।।

+देखो व्याख्या इसी दशति में मन्त्र २ ।

ऋषिः—कण्वः (मेधावी ध्यानी)।

परमात्मा के सचात्कार में श्रवणादि द्वारा अधिकारिभेद—

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥

(अग्ने) हे अग्निरूप परमात्मन् ! (त्वां ज्योतिः) तुझ ज्योति को (शश्वते जनाय) शाश्वतिक* जन—अमर जन—मुक्त आत्मा हो जाने बन जाने के लिए+ (मनुः—निदधे) मननशील उपासक जन अपने अन्दर धारण करता है—मनन करता है—मनन द्वारा बिठाता है वह तू अग्निरूप परमात्मा (ऋतजातः—उक्षितः) ज्ञान वेदनामक श्रुत से प्रसिद्ध हुआ—श्रुत हुआ—श्रवण में आया हुआ तथा ध्यान से सिक्त निदिध्यासन क्रिया को प्राप्त हुआ (कण्वे दीदेथ) मेधावी ध्यानी उपासक के अन्दर प्रकाशित हो जाता है‡ (यं कृष्टयः नमस्यन्ति) जिस परमात्मा को

---

*"शश्वते—शाश्वतिकः" (निरु० ४ । १६)
"शश्वते जनत्वाय-शश्वज्जनत्वाय" जनाय, भावार्थः प्रयोगः भावप्रधानो वा ।

+"कण्वो मेधावी" (निघ० ३ ।१५) ।
"कण निमीलने" (चुरादि०) "कण्+क्वन्" "···कणिखदिविशिभ्यः क्वन्" (उणादि० १ । १५१) कण्वो ध्यानी ।

‡"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्" (योग० १ । ४८ व्यास०) आगम—श्रवण से, अनुमान—मनन से, ध्यानाभ्यासरस निदिध्यासन से परमात्मा का उत्तम योग प्राप्त होता है ।

कर्मशील* मनुष्य नमस्कार करते हैं बाह्य रीति से स्वीकार करते हैं।

कर्मशील साधारण जन परमात्मा को स्वीकार करते हैं। आस्तिकता से प्रत्येक कर्म के अनुष्ठान में उसे नमस्कार करते हैं। लोकनिर्वाह के लिए कृषक की भांति निज कर्म का पुण्य फल पाने के लिए वेद से परमात्मा का श्रवण करके, जैसा कि मीमांसादर्शन में कहा है "कर्मण्यारम्भ भाव्यत्वात् कृषिवत्प्रत्यारम्भं फलानि स्युः" (मीमांसा० ११। १। २०) अर्थात् कर्म वर्तमान होने पर उपज परिणाम फल आवश्यक है। खेती की भांति बीज बोने से फल मिलता ही है। परन्तु मननशील जन परमात्मा का श्रवण करके ही अपने को कृतकृत्य नहीं मानते, श्रवण के अनन्तर उसका मनन भी करते हैं। ध्यानी मेधावी जन श्रवण और मनन के अनन्तर निदिध्यासन भी करते हैं। अन्ततः फल रूप में परमात्मा का साक्षात्कार भी अपने अन्दर प्राप्त करते हैं। इस प्रकार परमात्मा को मानने वाले आस्तिक जनों की तीन श्रेणियाँ उत्तम, मध्यम और मन्द अधिकारिभेद से हुई।

[१] कृष्टि—वेद से परमात्मा का श्रवण करके उसके आदेशानुसार कर्म अर्थात् लौकिक फलार्थ यज्ञ दानादि श्रेष्ठ कर्म द्वारा परमात्मा को नमस्कार करना। यह भी अच्छा धर्म्य-जीवन है।

[२] मनु—परमात्मा का श्रवण करके उसका मनन भी

---

*कृष्टयो मनुष्यनाम" (निघं० २। ३) कृष्टयः कर्मशीलाः साधारणजनाः ॥

करना, उसके विविध गुणगान करके अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना।

[३] कण्व--परमात्मा का श्रवण, मनन करने के अनन्तर निदिध्यासन, अध्यातम योग से करना; निदिध्यासन के पश्चात् ही साक्षात्कार भी परमात्मा का हो ही जाता है। उस कण्व—मेधावी में परमात्मा प्रकाशित हो जाता है और उसे प्रकाशमान कर देता है ॥ १० ॥

वक्तव्य—

सामवेद का सम्पूर्ण कथात्मक भाष्य करने को मेरा विचार था, परन्तु जितना यह भाष्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित है जब इतना सम्पन्न हुआ तो ब्र० कृष्णदत्त के पक्षपाती आर्य समाज विनयनगर (नई दिल्ली) ने मेरे द्वारा इस आर्य समाज हित वैदिक साहित्य लेखन को दोषपूर्ण ठहराया, मेरे विरुद्ध अठपेजी पुस्तिका छपा कर जनता में और सर्वत्र आर्यसमाजों में बाँटी, मुझे व्यापारी संन्यासी संन्यासधर्म से रहित कहा* मुझ पर अपशब्द (गालियां) बरसाये, मेरा अपमान करने में कुछ कसर न छोड़ी, मुझ पर क्रोध ज्वर चढ़ा। क्रोध ज्वर का टेम्प्रेचर मेरी 'भ्रम निवारण' पुस्तक+ का लिखना कहा, आपका पारा

*मेरी ६० पुस्तकें छपीं जिनमें ४५ पुस्तकें सभा, संस्था, ट्रस्टों को प्रकाशनार्थ कुछ भी न लेकर मुफ्त दीं। तीन दर्शन संस्कृतभाष्य छपाए एवं वैदिक साहित्य ऐसे ग्रन्थों का लेखन भी व्यापार कह दिया। सभाओं द्वारा लेखन प्रकाशन इतना न हो पाता जितना मैंने किया, मेरे वेदान्त दर्शन भाषा भाष्य का प्रकाशन सार्वदेशिक सभा द्वारा ७ वर्ष में हो रहा है।

+ जो आर्य सिद्धान्त रक्षार्थं मैंने लिखी थी।

कितना गरम, (गंजे) को नाखून न दिये तक कहा, भोले (अज्ञानी) संन्यासी कहा। एक व्यक्ति ने तो अपने पत्र में मुझे "ईर्षालु, दम्भी, छद्मवेशी, पाखण्डी,कुटिल,नीच तक कहा, ब्र० कृष्णदत्त के विरुद्ध लिखने से बाज आ, लिखना बन्द न किया व क्षमा न मांगी तो ।" बस तब से मैंने लेखन कार्य बन्द कर दिया, आर्यसमाज विनयनगर ने मेरा अपमान किया। ५ मास हो गये अभी तक उसने मेरे प्रति किये अपमान पर खेद प्रकट नहीं किया। इस विषय में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने मेरे प्रति भारी उपेक्षा करी उक्त सभी की ओर से एक पंक्ति भी न लिखी गई कि "स्वामी ब्रह्ममुनि के प्रति आर्य-समाज विनयनगर का यह ऐसा व्यवहार घृणित है*" अतः इस पुस्तक के प्रकाशन की तिथि से मैंने आर्य समाज के लिए साहित्य लिखना और आर्य समाजोंतथा आर्यसभाओं में जाना बन्द कर दिया है, शिक्षण संस्थाओं और आश्रमों के साथ मेरा सम्बन्ध बना रहेगा। इति

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

* जिस सभा की भेंट मैंने अनेकों पुस्तकें प्रकाशनार्थ लिख कर मुफ्त दीं।

वैदिक वन्दन

जिस में वेदों के अध्यात्मविषयक १४ सूक्त अध्याय और ईश्वर, जीवात्मा, मन, मोक्ष, ध्यान, अभ्यास, वैराग्य आदि १३ विषयों के १६० प्रकीर्णमन्त्र अर्थ तथा प्रेरणाप्रद व्याख्या के सहित हैं। दैनिक सत्संग स्वाध्याय कथा करने में उपयुक्त है।

सजिल्द पृष्ठ ४४६ मूल्य ५)

वैशेषिकदर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्

वैशेषिकदर्शन का विवेचनात्मक तथा कठिन सूत्र का भी पारस्परिक सङ्गति पूर्वक सूत्रानुसारी सरल संस्कृत भाष्य। मूल्य २)

दोनों पुस्तकों के मिलने का पता—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,

दयानन्द भवन (रामलीला मैदान)

न्यू देहली १

सार्वदेशिक प्रेस, दरिया गंज, दिल्ली-७